R.U.P.E.

Research Unit for Palitical Economy

The Research Unit for Palitical Economy (R.U.P.E..) is conspituted under the People's Research Trust. which is a registered public trust.

The Research Unit for Political Economy is concerned with analysing. at the theoretical and empirical levels. various aspects of the economic life of the country and its institutions.

It aims to compile. analyse. and present information and statistics so as to enable people to understand the actual mechanics of their everyday economic life. And. in this. it aims to take the assistance and insights of people engaged in every sphere of productive work and society.

It feels that much of the research currently carried out with heavy funding is conditioned directly and indirectly by the implicit frame set by the funders.

The R.U.P.E. does not accept foreign institutional funding. It runs on limited finances raised from personal contributions. Contributions towards its work. either monetary or in the form of actual work. are welcome. Donations enjoy exemption under section 80G of the Income Tax Act. They should be made in the name of "People's Research Trust" and sent to tho following address:

R.U.P.E..
18. 'Peter Marcel Bldg..
941. Prabhadevi.
New Prabhadevi Rd..
Mumbai 400025
Tel. 4220492

पतित विकास और साम्राज्यवाद — लेखक एस॰के॰ घोष

भारत में विकास योजनाएँ : पतित विकास और साम्राज्यवाद

लेखक
सुनीति कुमार घोष

अनुवादक
एम॰ इकराम अजमेरी

RUPE

लेखक परिचय

सुनीति कुमार घोष 1949 में पूर्वी पाकिस्तान (अब बंगलादेश) से विस्थापित हुए।

वे 1946-47 के तेभागा आंदोलन के दिनों से ही कम्युनिस्ट आंदोलन में हैं। वे All India Co-ordination Committee of Communist Revolutionaries के सदस्य रहे। वे भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी– लेनिनवादी) के संस्थापक सदस्य थे। उन्होंने CPI (ML) के मुखपत्र ''लिब्रेशन'' की शुरूआत से अप्रेल 1972 तक संपादन किया।

सुनीति कुमार घोष की अन्य प्रसिद्ध पुस्तकें –

The Indian Big Bourgeoisie :
Its Genesis, Growth and Character.

India and The Raj (Vol I & Vol II)
Glory, Shame and Bondage

उनके लेख समय–समय पर राष्ट्रीय–अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर Bulletin of Concerned Asian Scholars, Colarado, Economic & Political Weekly व Aspects of India's Economy Mumbai जैसी प्रतिष्ठित पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं।

औद्यागिक रूप से विकसित और पुनर्जीवित होना है तो फिर उसे बिल्कुल ही दूसरा रास्ता चुनना होना।

वो असल सवाल जिसे आज हमारे ज्यादातर समाजशास्त्री भुला देना चाहते हैं, वो है आज के औद्योगीकृत देशों और भारत जैसे अधो–विकसित देशों के बीच किसी "टाईम–लैग" का सवाल नहीं बल्कि राजनीति का भी सवाल। आर्थिक विकास सिर्फ आर्थिक सवाल ही नहीं होता है बल्कि राजनैतिक और वैचारिक सवाल भी होता है। इसलिये इसे हल किये बगैर, आर्थिक सवाल को भी हल नहीं किया जा सकता है और इसी वजह से कोई भी सार्थक आर्थिक विकास संभव नहीं हो सकता है।

सन् 1949 में चीन द्वारा आजादी हासिल कर लेने के बाद माओत्से तुंग की रहनुमाई में चलते हुए चीनी अवाम ने तरक्की की राह में रोड़े बने संस्थागत–ढांचे को नेस्तनाबूद कर दिया और स्वतंत्र, आत्मनिर्भर और चौफेर तरक्की की राहें रोशन कर दी। इसके बरखिलाफ यह नेहरू और उनकी जमात की राजनीति ही थी, यानि सत्ताधारी वर्ग की राजनीति ही थी जो इस संस्थागत ढांचे को यथावत बनाये रखना चाहती थी–घरेलू वर्गीय ढांचे और मौजूद उत्पादन संबंधों के साथ ही साथ भारतीय अर्थव्यवस्था पर साम्राज्यवादी जकड़न को संरक्षित रखना चाहती थी–यानि ठीक उन्हीं कारकों को संरक्षित रखना चाहती थी जो भारत को अधोविकसित और उसकी पर निर्भरता को कायम रखते थे।

असल में, भारत की विकास योजनाएँ विकास और आत्मनिर्भरता के मोडलों के बजाए अधो विकास और परनिर्भरता के मोडल हैं। सारतः अधो–मुखी–विकास कई उत्पादक संबंधों के समूह की पैदावार होता है जो कि उत्पादक शक्तियों के विकास में रूकावट डालता है। भारत का विकास विदेशी पूँजी तथा तकनालोजी के बढ़ते हुए आयातों पर निर्भर नहीं करता है, बल्कि मौजूदा उत्पादन संबंधों को तोड़ने, विदेशी पूँजी की जकड़न को खत्म करने और अर्थ–व्यवस्था को स्वतंत्रतापूर्वक–जनहित में पुनर्गठित करने में ही छिपा हुआ है। लेकिन यह सब कुछ एक राजनैतिक प्रश्न के उत्तर पर ही टिका हुआ है : यानि राजसत्ता पर कौनसे वर्ग काबिज़ हैं ?

एक बहुत ही छोटे इलाके में कुछ औद्योगिक या कृषि–पैदावार का बढ जाना मात्र ही विकास का सुबूत नहीं होता है। इस संदर्भ में एम. बैरट ब्राऊन का कथन है : "अधोविकास अविकास नहीं है बल्कि विकास की ही बिगड़ी–हुई–शकल है।"[8] यहाँ यह रेखांकित किया जा सकता है कि

भारत में विकास योजनाएँ पतित विकास और साम्राज्यवाद

लेखक
सुनीति कुमार घोष

अनुवादक
एम. इकराम अजमेरी

प्रकाशक
पीपुल्स रिसर्च ट्रस्ट, मुम्बई

लेखक :
सुनीति कुमार घोष

अनुवादक :
एम. इकराम अजमेरी

पहला संस्करण : मार्च, 2002
मूल अंग्रेजी में : जुलाई 1997
प्रथम हिन्दी संस्करण : मार्च 2002

किफायती प्रति : 35.00 रु.
सजिल्द संस्करण : 125.00 रु.

प्रकाशन सहयोग :
फ्रेन्ड्स ऑफ अेस्पेक्ट्स ऑफ इण्डिया, राजस्थान
पोस्ट बॉक्स नम्बर 160 शास्त्री सर्कल, उदयपुर 313 001

वितरण :
लोकायत प्रकाशन
883, लोधों की गली,
एम.डी. रोड, जयपुर

प्रकाशन :
पीपुल्स रिसर्च ट्रस्ट
ग्राउण्ड फ्लोर, सिद्धवा हाउस, एन.ए. सावंत मार्ग,
कोलाबा, मुम्बई – 400005

कम्प्यूटर टाइपसेटिंग :
सन ग्राफिक्स, उदयपुर ✆ 414343
मुद्रक :
स्वदेशी ऑफसेट, उदयपुर

S.K. Ghosh : Bharat Mein Vikas Yojanayein : Patit Vikas Aur Samrajyavad (Hindi translation of ' Development Planing in India : Lumpen Development and imperialism')

औद्योगिक क्रांति की दहलीज पर खड़े पश्चिम और साम्राज्यवाद–पश्च–भारत की जमीनी सच्चाईयों के बीच भी फिर दूसरे बहुतेरे फर्क मौजूद हैं, मसलन यह इशारा किया जा सकता है कि "औद्योगिक क्रांति की पूर्ववेला में भी योरप एक ऐसा समाज था जो कि गुजर–बसर की न्यूनतम आर्थिक सीमा से काफी आगे निकल चुका था।" इस तथ्य को डैविड एस. लैण्डिज ने अपने एक अध्ययन–18 वीं शताब्दी के इंग्लैण्ड और 20 वीं शताब्दी के औद्योगीकरण पूर्व अर्थव्यवस्थाओं के बीच तुलनात्मक प्रति व्यक्ति (आय के–अनु.) आंकड़ों में फर्क–में और अधिक विवेचित किया है।" उन्होंने कहा :

"पश्चिमी यूरोप ..... औद्योगिक क्रांति के पहले ही धनी था–तुलनात्मक रूप से उस वक़्त की दुनिया के अन्य हिस्सों और आज के औद्योगीकरण पूर्व विश्व से ..... , यह संपदा संदियों से किये जा रहे धीमे संचय, जो कि निवेश आधारित था, यूरोपीय मुल्कों के अलावा मुल्कों के संसाधनों और उनके उज़रत की लूट, ठोस तकनीकी प्रगति और सामग्री–मालों के उत्पादन में ही नहीं बल्कि उनके वस्तु–विनिमय के लिये संगठन और वित्त–व्यवस्थापन और वितरण का नतीजा थी"[6]

इनमें से बहुत सारे मुल्कों के पास लूटने के लिये उपनिवेश थे जिनकी लूट–खसोट का काफी बड़ा हिस्सा पूँजी–निर्माण में प्रयुक्त होता था। एक आकलन के हिसाब से, 1801 के ब्रिटेन में यह लूट उसके सकल घरेलू पूँजी–निर्माण के 70 फीसदी हिस्से का निर्माण करती थी।[7] इन उपनिवेशों से एक दूसरे लक्ष्य की पूर्ति भी होती थी वो लक्ष्य ये था कि ये उपनिवेश, औद्योगीकृत होते हुए पश्चिमी देशों के तैयारशुदा मालों की मण्डियाँ भी बन गये थे और इस प्रक्रिया में खुद इनके उद्योग–धंधे कमजोर हो गये।

भारत में जहाँ–पूर्व–पूँजीवादी संबंधों का बोलबाला था, जहाँ ब्रितानी उपनिवेशवादियों का उपजाया सत्ताधारी वर्ग–इन संबंधों को ना सिर्फ बनाये रखना चाहता था बल्कि उसे और भी ज्यादा मजबूत करना चाहता था, इस सबके बावजूद भी नेहरू की तरह यह दावा करना तो बहुत ही घटिया मजाक है कि भारत उस औद्योगिक क्रांति को सम्पन्न करने में सक्षम था जो कि पश्चिम के स्वतंत्र और आत्म–निर्भर अर्थव्यवस्था वाले बूर्जुआ राष्ट्र–राज्यों में सम्पन्न हुई थी–और वो भी उस भारत में जहाँ साम्राज्यवादी पूँजी देशी अर्थव्यवस्था पर छायी हुई थी और जहाँ औद्योगीकरण नवीन विदेशी पूंजी और तकनालोजी के आगमन पर निर्भर थी !

पूँजीवादी पश्चिम के आर्थिक विकास और भारत जैसे देशों के अधोविकास के बीच एक गहरा संबंध है। पश्चिम की आर्थिक विकास प्रक्रिया को भारत द्वारा हू बहू दोहराया नहीं जा सकता है। अगर भारत को

को प्रोत्साहित किया। इसलिये भारत आज भी आधुनिकता के अपने झीने के मुलम्मे के नीचे मध्ययुगीन–धंधलके को बमुश्किल ही छिपा पाता है।

इसके अलावा, औद्योगीकरण की पूर्व संध्या में पश्चिम के देश मजबूत, स्वतंत्र राष्ट्र–राज्य थे और इन्हें भारत की तरह साम्राज्यवादी शासन के जुड़ेपे में जुते रहने के लंबे दौर से नहीं गुजरना पड़ा था। यह भी सच है कि शुरूआती दौर में ब्रितानी पूंजीगत–मालों और तकनीकी जानकारियों ने फ्रांस की और कुछ दूसरे योरोपीय मुल्कों के औद्योगिक विकास में खासी भूमिका निबाही थी। लेकिन जैसा कि एल. एच. जैन्क्स ने इशारा किया था, यह तरंग खुद उन्हीं के भीतर से उठी थी। फ्रांस की चर्चा करते हुए जैंन्क्स की टिप्पणी थी, "लेकिन पहलकदमी, रहनुमाई और फैसले लेने का हक तो फ्रांसीसी जनता और फ्रांसीसी सरकार के हाथों में ही निहित था।"[4] लेकिन ठीक यही दावा साम्राज्यवाद–पश्च–भारत के लिये नहीं किया जा सकता है। वह न सिर्फ विदेशी पूँजी और तकनालोजी पर बल्कि अपनी प्रमुख नीतियों के लिये भी उन पर बेतरह निर्भर था, जैसा कि हम आगे देखेंगे कि इसकी नीतियाँ साम्राज्यवादी देशों और उन्हीं के द्वारा नियन्त्रित संस्थानों द्वारा बनाई गई थी।

भारत पर साम्राज्यवाद के लंबे शासन ने ऐसे आर्थिक और सामाजिक ढांचे को जनमा जो कि विदेशी सामराजी ताकतों की ही भलाई साधता था। साम्राज्यवादी शासन और उसकी लूट को बरकरार रखने के समर्थक बने दो मुख्य देशी वर्ग–सामंत और बड़े बिचौलिये पूँजीशाह–जो कि हम पीछे देख आए हैं, साम्राज्यवाद–उपरांत–भारत के शासक वर्ग बन बैठे और तभी से भारत पूँजीवादी–साम्राज्यवादी पद्धति के साथ हिलामिला रहा है।"

हैरी मैगडफ का उद्धरण है :

विश्व बाज़ार के साथ अल्प विकसित पूँजीवादी पद्धतियों का एक भरोसमंद और प्राकृतिक संसाधनों को लगातार उपलब्ध कराने वाली इकाई के रूप में जुड़ाव का नतीजा, जिसके न होने की संभावना अपवाद स्वरूप ही होती है; आम तौर पर एकाधिकारी पूँजी केन्द्रों पर लगातार निर्भरता में ही घटित होता है और इसे बाज़ार की संरचना, जो कि खुद इसी निर्भरता से पैदा होती है, वही इसे कथित वैधता (Sanctity) और प्रगाढ़ता देती है ..... और गुलामी की जंज़ीरों को, साम्राज्य के केंद्रों की सियासी, माली और फौज़ी ताक़त के ज़रिये से या फिर मेरिन्ज़ (अमेरिकी नोसैना) की मदद से, फौज़ी अड्डों, रिश्वतों, सी.आई.ए. (C.I.A.) की कारस्तानियों, वित्तीय करतूतों और इसी तरह की तमाम दीगर चीज़ों के मार्फत जोड़ा–तोड़ा जा सकता है ..... लेकिन इस पर निर्भरता का (Dependence) भौतिक आधार होती है एक ऐसी औद्योगिक और वित्तीय संरचना, जिसके ज़रिये बाज़ार के तथाकथित आम क्रियाकलाप, आर्थिक निर्भरता की स्थितियों को जनम देते हैं।"[5]

प्रथम हिन्दी संस्करण की भूमिका में

मुझे खुशी है कि राजस्थान के मेरे मित्रों ने मेरे लंबे लेख *"भारत में विकास योजनाएँ : पतित विकास एवम् साम्राज्यवाद"* के हिंदी संस्करण को प्रकाशित करने का फैसला किया है। मैं अपने हृदय से उन्हें बधाई देता हूँ।

प्रिय पाठकों, इस लेख के लिखे जाने से लेकर आज तक गुजरे समय में, साम्राज्यवाद का हमला पहले से भी कहीं ज्यादा भयानक हो गया है। भारतीय जनता का दमन करने, उसे लूटने, और इस तरह से हुई लूट–खसोट में से एक अंश पाने के लिये, भारत का सत्ताधारी वर्ग, यू.एस.ए. के नेतृत्व में साम्राज्यवादियों का एक आतुर सहयोगी बन गया है।

यह सत्ताधारी वर्ग, अपनी आदमखोर पूँजीवादी हुकूमत को बरकरार रखने के लिये ना सिर्फ तमाम तरह के दमनकारी कदम उठा रहा है बल्कि दलित जनता में फूट डालने और उनकी एकता और संगठनों की मौजूदगी, जो कि दमन के विरूद्ध उनके संघर्ष में उनकी जीत की पूर्व शर्तें हैं, को छिन्न–भिन्न करने की गरज से साम्प्रदायिकतावादी, जातिवादी और अंधराष्ट्रवादी नीतियों को भी अपना रहा है। और वो दूसरी नुकसानदेह नीति जिस पर सत्ताधारी वर्ग चल रहा है वो है श्रम बल (Work Force) को बाँटते हुए, बिखेरते हुए और इस तरह से उन्हें बेबस कर विदेशी और देशी शार्कों के हवाले कर देना। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये शासक वर्ग, औद्योगिक इंटरप्राइजेज़ से परमानेंट वर्करों को हटाकर उनकी जगह ठेका श्रमिकों (जिनको जितना संभव हो सकता है उससे भी कहीं कम मजदूरी दी जाती है और जिन्हें रोजगार की कोई गारंटी भी नहीं होती है और उन्हें वे लाभ भी हासिल नहीं होते हैं जिनको भारतीय मजदूर वर्ग ने दशकों संघर्ष के बाद मालिकों से जबरन छीन कर हासिल किया था) को भर्ती कर रहा है। ऐसे ही तरीकों से, सत्ताधारी वर्ग, भारतीय जनता द्वारा, अपने जीवन के लिये अहितकारी घातक नीतियों के खिलाफ जो प्रतिरोध संघर्ष चलाया जा रहा है, उसे भी दबाने की कोशिश कर रहा है।

भारत के विभिन्न हिस्सों में आज मेहनतकश अवाम संघर्षों में उठ खड़ा हो रहा है। और ये संघर्ष विभिन्न रूपों में भी ढल रहे हैं। ये वर्गीय एवम् साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष, अवाम को एकजुट करने के साथ ही उनकी चेतना को भी विकसित करते हैं और इस तरह से उन्हें उनके दोस्तों और दुश्मनों के बीच फर्क करना सिखाते हैं। वक्त गुज़रने के साथ, इसी तरह से, हुक्मराँ आज ज्यादा से ज्यादा अलग–अलग पड़ता जा रहा है।

भूतपूर्व यू. एस. स्टेट सेक्रेटरी हैनरी कीसिंजर के मुताबिक "ग्लोबलाईजैशन नामक शब्द अमरीकी प्रभुत्व का ही एक पर्याय है," जो कि विश्वव्यापी प्रतिरोध को जनम दे रहा है। अमरीकी साम्राज्यवाद यानि दुनिया की एक मात्र महाशक्ति, इसके संगी–साथी और इसके सेवक–चाटुकार देशों की साजिशों को बेनकाब करने के लिये खुद साम्राज्यवाद के इन गढ़ों की जनता के साथ ही साथ अधोविकसित विश्व की जनता भी इनके खिलाफ जंग में कमर कस कर खड़ी हो रही है। सीएटल (विश्व व्यापार संगठन के मंत्री स्तरीय सम्मेलन के दौरान केलिफोर्निया में), बैंकॉक (अंकटाड UNCTAD सम्मेलन के दौरान, थाइलैण्ड में), वाशिंगटन

(विश्व बैंक की बैठक के दौरान), मैलबोर्न (वर्ल्ड इकनोमिक फोरम की एशियाई देशों की शिखर वार्ता के दौरान, ऑस्ट्रेलिया में), प्राग (विश्व–बैंक–अ. मु. को. की सालाना बैठक के दौरान), डेवोस (वर्ल्ड इकनोमिक फोरम की सालाना बैठक के दौरान, स्विट्ज़रलैण्ड में), क्युबैक (दोनों अमरीकी महाद्वीपों के चौंतीस राष्ट्राध्यक्षों के शिखर सम्मेलन के दौरान) उन्होंने यही किया है। सिर से पाँव तक हथियारों से सजा ये दुश्मन अब भी बहुत ताक़तवर है। हालाँकि वह थोड़ा डरा हुआ है क्योंकि उसका साबिका अब दुनिया के सैंकड़ों–हज़ारों जंगजू लोगों से पड़ा है। सारी दुनिया के दलित राष्ट्रों की जनता की एक विस्तृत एकजूटता बढ़ रही है। अब शायद वो दिन दूर नहीं कि जब सारी दुनिया के मेहनतकश और दलित राष्ट्र एकजूट हो जाऐंगे और दुश्मन को हराकर मानव जाति के इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात करेंगे।

सुबर्ण रेखा **सुनीति कुमार घोष**

73–एम.जी. रोड़, कोलकाता–700 009

अनुवादक की ओर से

दो से भी ज्यादा साल पहले एस्पेक्ट्स में श्री एस. के. घोष के दो हिस्सों में छपे लेख के शुरूआती अध्यायों को पढ़ते–पढ़ते ही इनका हिंदी संस्करण तैयार करने का ख़याल पक्का हो गया था। अब इस काम के पूरा होने की खुशी भी है लेकिन थोड़ा खेद भी है क्योंकि कार्य–काफी देरी से सम्पन्न हो पा रहा है।

हालाँकि लेख की विशिष्ठ भाषाशैली और फिर स्वयम् मुझे भी प्रस्तुत विषय–वस्तु का वांछितज्ञान न होने के कारण, भाषान्तरण में काफी दिक्कतें आयी हैं, तो भी मैंने लेखक के राजनैतिक–अर्थशास्त्रीय निष्कर्षों को उनके मूल तेवरों में बनाये रखने की अपनी क्षमता और निष्टापूर्वक कोशिश की है, लेकिन भाषान्तरण में यह लक्ष्य शायद ही कभी पूरी तरह से हासिल किया जा सकता है। इसलिये इसमें जो भी कमियाँ हैं, वे सिर्फ मेरी कमियाँ हैं; लेकिन उम्मीद करता हूँ कि साथी–पाठक इन कमियों की ओर ध्यान दिलायेंगे ताकि अगले संस्करण में इन्हें दुरुस्त करते हुए अनुवाद को बेहतर बनाया जा सके।

मैं रजनी एक्स. देसाई, संपादक, एस्पेक्ट्स ऑफ इण्डियाज़ इकोनोमी, बंबई, का भी आभारी हूँ जिनके मार्गदर्शन और उत्साहवर्धन से यह कार्य पूरा हो पाया है। साथ ही 'फ्रेण्डस ऑफ एस्पेक्ट्स' के साथी डी. एस. पालीवाल का भी आभारी हूँ जिन्होंने इसके प्रकाशन की 'मुहिम' की जिम्मेदारी लेकर इसे हिंदी पाठकों के लिये उपलब्ध करना संभव बनाया। और साथ ही मैं साथी हिमांशु पंड्या का भी आभारी हूँ, जिन्होंने अनुवाद की त्रुटि पूर्ण वर्तनी एवं वाक्य विन्यास को दुरुस्त करने के कठिन काम को अंजाम दिया।
धन्यवाद ।

दिनांक 16-08-2001 **एम. इकराम अजमेरी**

अजमेरी स्ट्रीट, बेगूँ – 312 023

औद्योगिक क्रांति की जमीन तैयार की, उन मुल्कों में बूर्जुआ क्रांति सम्पन्न हो चुकी थी, उत्पादक–शक्तियों की सामंती बेड़ियाँ तोड़ी जा चुकी थीं और एक ऐसा वर्गीय ढांचा जिसमें स्वतन्त्र बूर्जुआजी एक प्रबल–वर्ग के रूप में उभार ले चुका था–यानि यही वो शर्तें थीं जिन्होंने औद्योगिक क्रांति को सम्पन्न होने में सक्षम बनाया मिसाल के तौर पर, यह इंग्लैण्ड की 17 वीं शताब्दी की औद्योगिक क्रांति ही थी जिसने उत्पादक–शक्तियों की बेड़ियों को उतार फेंका और जिसने इसके बाद और ताकत बटोरी और आखिरी अठारहवीं सदी के आख़िर और 19वीं सदी की शुरूआत में सम्पन्न हुई औद्यौगिक क्रांति के लिये रास्ता साफ कर दिया। माओत्से तुंग के लफ्जों में, "उत्पादन संबंधों में क्रांति उत्पादक शक्तियों के कुछ सुनिश्चित विकास के कारण होती है लेकिन उत्पादक शक्तियों का मुख्य विकास तो हमेशा ही उत्पादन संघों में बदलाव के बाद ही होता है।"[2]

पश्चिमी यूरोप में बूर्जुआ जनवादी इंकलाब सारतः एक कृषि–क्रांति थी। सामंतवाद के खात्मे और खेती–बाड़ी में उन्नति ने पहले से कहीं ज्यादा और अतिरिक्त खाद्य उपलब्ध कराने में मदद की और पूँजीमालों समेत औद्योगिक़ मालों (शुरू में सिर्फ कृषि के लिये) के लिये पहले से कहीं ज्यादा बड़े बाजार को विकसित किया। लेकिन भारत को तो अभी कृषि–क्रांति का दर्शन करना भी बाकी है।

पंद्रहवीं शताब्दी के मध्य यानि पुनर्जागरण (रिनैसंस) के दिनों से ही, पश्चिमी यूरोप में विचारों, दृष्टिकोणों और संस्थाओं में एक इंकलाबी बदलाव हो रहा था। बकौल जे. डी. बर्नाल. रिनैसंस और रिफर्मैशन (धर्म सुधार आंदोलन) की सामाजिक शक्तियों ने तकनालॉजी को निर्धारित किया और उस आधुनिक युग के विचारों को ढाला, जो कि आसन्न था। उन्हीं का उद्धरण है, "इस निर्णायक घड़ी में साइंस के क्षेत्रों में हुए वैचारिक परिवर्तनों ने.....एक *वैज्ञानिक क्रांति* ला दी और इसने यूनानी, इस्लामी और ईसाई धर्माचार्यों द्वारा समान रूप से अधिकृत बौद्धिक धारणाओं की विरासत के ढांचे को गिरा दिया और इसकी जगह एक नये ढंग की क्रांतिकारी पद्धति को स्थापित कर दिया।"[3] यह वैज्ञानिक क्रांति पश्चिमी यूरोप में औद्योगिक क्रांति से पहले सम्पन्न हो चुकी थी और इसने आदमी के नज़रिये को ही रूपान्तरित कर डाला। लेकिन भारत पर साम्राज्यवादी शासन ने– जिसकी दखलंदाजी 18 वीं सदी में हो चुकी थी, खयालों और नजरियों में हो रही कायापलट की प्रक्रिया पर लगाम लगा दी। इसने पुराने ढांचे की जगह नये अर्ध–सामंती ढांचे को खड़ा करते हुए धार्मिक–धुंध और बौद्धिक–पिछड़े–पन

III- अधोविकास के मॉडल और दासता

गांधी द्वारा औद्योगीकरण के विरोध की ओर इशारा करते हुए पार्थ चैटर्जी लिखते हैं :

"इसके बरखिलाफ नेहरू ने ऐसे "दृष्टा" और उनकी "अवैज्ञानिक" बातों के खिलाफ अपनी बेचैनी को छिपाये बगैर अपने तर्कों को ऐतिहासिक विकास के वैश्विक सिद्धांत पर मजबूती से टिकाया : "जितनी मुमकिन हो सके हम उतनी कोशिशें कर रहे हैं उस औद्योगिक क्रांति तक पहुँचने की जो कि बहुत पहले ही पश्चिमी मुल्कों में सम्पन्न हो चुकी है।"[1]

हालांकि "ऐतिहासिक विकास के विश्वव्यापी सिद्धांतों की बात करना अतर्कसंगत होगा क्योंकि विकास के नियम सभी देशों पर एक समान ढंग से लागू नहीं होते हैं। औद्योगिक क्रांति की पूर्व संध्या पर पश्चिमी देशों के शुरूआती हालात में और साम्राज्यवाद पश्च भारत में योजना अंगीकृत किए जाने के हालातों में मूलभूत अंतर था। यह सिर्फ समय के पिछडाव का ही मामला नहीं था। पश्चिमी देशों में सम्पन्न हुई औद्योगिक क्रांति को साम्राज्यवाद–पश्च भारत में सम्पन्न कर पाना तब तक मुमकिन नहीं था जब तक कि वह साम्राज्यी विरासत में मिले विकृत सामाजिक ढांचे में क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं कर देता। और अगर भारतीय समाज की कायापलट हुई होती, यदि भारत विदेशी और देशी वर्गों यानि विदेशी और भारतीय बड़े पूँजीपति (जिनके स्वार्थ एकमेक थे) और भारतीय भूस्वामी वर्ग के प्रभुत्व से खुद को बरी कर देता, तो एक सियासी इंकलाब हो चुका होता और इसी इंकलाब से एक ऐसा हिंदुस्तान उभरता जो पश्चिमी देशों की औद्योगिक क्रांति से पहले और बाद के हालात से बिल्कुल जुदा होता। यह मान्यता तो बिल्कुल ही इतिहास विरोधी है कि साम्राज्यवाद–पश्च भारत औद्योगीकृत पश्चिम की विकास प्रक्रिया को ज्यों का त्यों दुहरा सकता है।

साम्राज्यवाद–पश्च भारत माली, समाजी और सियासी हालात पश्चिमी देशों के हालात से बिल्कुल जुदा थे, ये हालात जिन्होंने इन मुल्कों में

सम्पादकीय

आज जबकि सरकार, व्यवस्थावादी मीडिया और संसदवादी पार्टियाँ, भारत की तथाकथित आजादी का पचासवाँ जश्न मनाने में जुटी हैं तो ऐन इस मौके पर भारत राज्य के इतिहास की पड़ताल कर लेना बहुत ही वाजिब होगा। आज से पचास साल पहले, हिंदुस्तान के हुक्मरानों ने ज़ोरदार दावे किए थे कि उनकी पाँच साला योजनाएँ 'समाजवादी' हैं, लेकिन समाजवाद लाना तो दूर, ये योजनाएँ तो अवाम का जरा सा भी भला करने में बेतरह नाकाम साबित हुई हैं।

लेकिन विडम्बनापूर्ण ढंग से आज, भारतीय सत्ता और विदेशी–वित्तीय संस्थायें, इस तमाम नाकामी को 'समाजवादी योजनाओं और कठोर नियन्त्रणों के मत्थे मढ़ रही है। पर दर हकीकत भारतीय हुक्मरानों की ये विकास योजनाएँ किसी भी लिहाज से कभी भी समाजवादी प्लैनिंग से मैल नहीं खाती थी : जैसा कि एस. के. घोष ने अपने इन लेखों में खुलासा किया है कि ये तो खुद अंग्रेज हुक्मराँ ही थे जिन्होंने हिंदुस्तान में अपने जाती फायदों को बढ़ाने के लिये 'प्लैनिंग' की कसरतों को शुरू किया था। बड़े भारतीय उद्योगपति भी उनकी इन कसरतों में शामिल हो गये थे। असली, हकीकत की कार्रवाइयों में तो इन पाँच साला योजनाओं ने उन्हीं के फायदों की भरपाई की है। ऊपरी तौर पर नजर आने वाले नियन्त्रण–नियमनों के बावजूद, ये योजनाएँ अर्थव्यवस्था पर कोई कड़ा नियन्त्रण रखना तो दूर, बड़े सरमायेदार घरानों और देहाती अमीरों के ही हाथों का खिलौना रही हैं। मेहनतकश अवाम से टैक्स हड़पने और उसे सत्ताधारी वर्गों की चाकरी में लगाने का भी औजार रही है ये योजनाएँ।

आज जबकि औद्योगिक दुनिया, हिन्दुस्तान पर अपना शिकंजा कसे जा रही है, और भी ज्यादा फायदों के लिये इसके आर्थिक ढांचे को दुबारा सांचे में ढाल रही है, तो 'योजना' के रहे–सहे ढोंग को भी तलाक दिया जा रहा है और नियंत्रण की प्रक्रिया को बिल्कुल झाड़ा पौंछा जा रहा है। इसलिये हमारे लिये यह जानना बहुत ही प्रासंगिक होगा कि वाकई में योजना के क्या मायने होने चाहिये ? इस लिहाज से भी इन लेखों में खयाल किया गया है इन लेखों का मकसद सिर्फ यही बतलाना नहीं है कि अब तो भारतीय योजना की कसरतें भी निष्क्रिय हो चुकी हैं बल्कि इस बात पर भी रोशनी डालना है कि कोई भी योजना सिर्फ तभी वास्तविक और अर्थपूर्ण होती है जब उसमें समाज के बुनियादी ढांचे में बदलाव की जरूरत पर जोर डाला जाए।

रजनी एक्स. देसाई

सम्पादक-एस्पेक्ट्स

अनुक्रमणिका

पृष्ठ सं.

भारत में विकास योजनाएँ पतित विकास और साम्राज्यवाद 7

I उत्पत्ति 7

II योजनाओं के दो प्रकार 15

III अधोविकास के मॉडल और दासता 28

IV विकास योजनाएँ : पर किसकी कीमत पर ? 68

V विकास योजनाएँ : किसके विकास के लिये ? 84

VI योजनाएँ : क्या ये इस नाम के भी लायक हैं ? 92

परिशिष्ट :

साम्राज्यवादी एजेन्सियाँ और भारतीय योजनाएँ : सार संक्षेप 111

References and Notes 126

सारतः, भारत में "जनतान्त्रिक योजना" असल में लुटेरों की 'जनतान्त्रिक' योजना है। नेहरू और उनके वाद समर्थकों के पाले–पोसे इन "कुछ मूल्यों और मानकों" ने शोषक "जनतन्त्र" को शोषितों के विशाल 'जनतन्त्र' में बदलने की हरेक मुमकिन कोशिश को षड्यन्त्रपूर्वक बाधित कर दिया। लेकिन नेहरू जिन उसूलों की कसमें खाते हैं, उनमें इस लुटेरों के 'जनतंत्र' को बचाने की कोशिशों का साफ–साफ जरा भी पता नहीं चलता है। 'जनवाद', 'आजादी' और इसी भांत के तमाम दूसरे लफ्जों के मानी हर वर्ग के लिये जुदा–जुदा होते हैं। नेहरुओं, बिड़लाओं, अमेरिकियों और दूसरे तमाम साम्राज्यवादियों के लिये "मुक्त और जनतान्त्रिक दुनिया वो दुनिया है जिस पर साम्राज्यवादी पूँजी का राज हो–ऐसी दुनिया जिसमें कम अजकम 75 फीसदी लोगों को गरीबी, अज्ञान और गंदगी में रहना पड़ता हो और जहाँ सरमायेदार पूँजी और पूँजीवादी आदमखोर अवाम की जिंदगी को डकार जाते हों। इसलिए भारतीय शासक वर्गों की "जनतांत्रिक योजना" की नीवें अर्ध–सामंतवाद और अर्ध–उपनिवेशवाद पर टिकी हैं (यानि साम्राज्यवादी पूँजी का अप्रत्यक्ष शासन)।

"जनतांत्रिक योजना" का एक मतलब और भी है, वो है वित्तीय अधिकारों का सिमटकर केंद्र के पास केंद्रित हो जाना और राज्य सरकारों का काम रह जाता है कि बस किसी वैभवशाली नगरपालिका से बस कुछ ही ज्यादा। और इससे शासक वर्गों के असरदार समूहों को अपने विरोधी समूहों के खिलाफ आर्थिक निर्णयों की प्रक्रिया में कुछ अधिक अधिकार हासिल हो जाते हैं। "प्लैनिंग कमिशन" समेत योजना के विभिन्न अंग अंतिम–विश्लेषण में तो इन्हीं लघु समूहों के औजार रहे हैं। इसी के समांतर केंद्र सरकार द्वारा राजकीय वित्त पर एकतरफा नियन्त्रण को हम सियासी हलकों में तानाशाही की प्रवृत्ति के रूप में देखते हैं। (विभिन्न राष्ट्रीयताओं द्वारा खुद के आर्थिक विकास की प्रक्रिया में जनतांत्रिक दखल एवम् नियन्त्रण करने का मुद्दा तो उनके एजेण्डे में शामिल तक नहीं है।)

⌘ ⌘

हमारे लिए तो दिक्कत यह है कि बगैर ज्यादा दबाव के जनतान्त्रिक योजना पद्धति के मार्फत हम अपनी मंजिल पर कहाँ तक पहुँच पाते हैं..... हम जनतान्त्रिक योजना को इसलिये पसंद करते हैं क्योंकि हम अपने खास उसूलों और आदर्शों की कद्र करते हैं।"[10]

और क्या थे ये उसूल और आदर्श ? नेहरू और उनके हमजोलियों के लिये उसूल और आदर्श कुछ–कुछ यों थे ..... साम्राज्यवादी पूँजी और साम्राज्यवादी–पूँजी के साथ सहजीवी भारतीय बड़ी पूँजी का जाब्ता करना–गैर–जनतांत्रिक पूंजी है। लेकिन इसके बरखिलाफ दमनकारी और लुटेरे वर्गों की, जो भले ही अवाम की जिंदगी को बेजार करते हों, और हिंदुस्तान की तरक्की के रास्ते में रूकावटें खड़ी करते हों, तो भी उनकी हिफाज़त और मदद करना, ताकि वे और भी अमीर बन सकें, बिल्कुल जनवादी होता। और अगर सामंती लूट–खसोट के किसी बुरे रूप में कोई थोड़ी बहुत कमी भी की गई तो इन सामंती प्रभुओं को काफी मुआवज़ा दिया गया, वो भी इन्हीं सामंती प्रभुओं द्वारा सदियों तक बेरहमी से लूट के शिकार बनाये गये भुखमरी और बदहाली से तंग लोगों की कीमत पर–यह मुआवज़ा देना भी जनतांत्रिक था। नेहरू और नेहरूवादी जमावड़े के लिये चीन की विकास योजनाएँ षडयन्त्र और हैवानी ताकत से लथपथ थी। लेकिन नेहरू और उनकी जमात के "जनतान्त्रिक उसूलों" पर कुछ भी आँच नहीं आयी जब उन्होंने तेलगांना और ऐसी ही दूसरी तमाम जगहों पर लुटेरों और तानाशाहों के खिलाफ उठ खड़ी हुई जनता को खूँरेजी और आग में झौंक डाला। इस बारे में *इण्डियन–एक्सप्रेस* और बाद में *हिंदुस्तान टाईम्स* के संपादक रहे फ्रैंक मौरेस ने लिखा : "आज के कानून और व्यवस्था की चौकीदार आजाद भारतीय सत्ता को पुरानी ब्रितानी–भारतीय सत्ता के मुकाबले गोली, चलाने में कहीं ज्यादा मजा आता है।"[11]

गुन्नर मिर्डिल का कथन था, "संस्थागत बदलावों द्वारा क्रांतिकारी सुधारों की जरूरत को टाल देने की गरज से कथित "जनतांत्रिक योजना" के औचित्य को सही ठहराया गया–खासकर उन वर्गों के लिये जिन्हें सिर्फ इसी यथास्थिति में फायदा था, और जो कि बहुत प्रेरित किए जाने के बावजूद भी इस पर राजी नहीं होने थे.....और जब इन (दक्षिण एशियाई) योजनाकारों ने क्रांतिकारी संस्थागत सुधारों के कानून बनाये भी–जैसे कि देहाती इलाकों में टैक्सों या मालिकाना हकों के लिये–तो उन्होंने इन कानूनों में तमाम तरह के चोर रस्ते छोड़ दिये और अकसर तो उन्हें लागू ही नहीं किया गया।"[12]

भारत में विकास योजनाएँ
पतित-विकास और साम्राज्यवाद

I- उत्पत्ति

1932 में पूर्व–सोवियट यूनियन की पहली पाँच साला योजना की शानदार कामयाबी की हर जगह धूम थी, यहाँ तक कि उन लोगों पर भी इसका गहरा असर था जो कि सोवियत–भूमि के विरोधी थे। सोवियत अवाम ने इस पाँच साला योजना को सिर्फ 4 साल 3 माह में ही पूरा कर डाला था। इन्हीं सालों के दौरान पूँजीवादी–दुनिया पर विनाशकारी संकट छाया हुआ था। 1929–33 के पूँजीवादी संकट ने लाखों जॉईंट स्टॉक कंपनियों को दीवालिया कर दिया, कारखानों की तालाबंदी कर दी, करोड़ों को बेरोजगार और बर्बाद कर दिया जिनमें भारतीय किसान, मजदूर और निम्न–बूर्जूआजी भी शामिल थे। सिर्फ सोवियत यूनियन ही इस संकट से बरी था : इसकी आर्थिक वृद्धि दर इतनी तीव्र थी कि वह पूरी दुनिया में अब तक कहीं भी हासिल नहीं की जा सकी थी।

इसलिये फिजाँ में योजना का खयाल तो मौजूद था ही। औपनिवेशिक भारत में भी इसके समर्थक मौजूद थे–साम्राज्यशाही मालिकों के साथ ही जी. डी. बिड़ला जैसे भारतीय उद्योगपति भी सोवियत यूनियन, जहाँ निजी पूँजी का खात्मा कर डाला गया था, वहाँ प्लैनिंग का मकसद था एक पिछड़े समाज को पूर्ण परिवर्तित और नव जीवित करते हुए देश की चौतरफा तरक्की करना, वहीं हिन्दुस्तानी सरमायेदारों और उनके मालिकों का मकसद था अवाम की आँखों में धूल झौंकते हुए अपने वर्गों की सम्पन्नता में भारी बढ़ोतरी के लिये मुल्क के संसाधनों को चरणबद्ध ढंग से संगठित करना और उनको अपने उपयोग में लेना।

जुन 1932 में, वाइसरॉ की एक्जीक्यूटिव कौंसल में वित्तीय मामलों के मेंबर सर जॉर्ज शुस्टर ने, यह प्रस्तावित किया कि भारत सरकार को "पंचवर्षीय आर्थिक प्लेन जैसा कुछ करना चाहिये.....अमली तौर पर चाहे इसका कोई नतीजा नहीं निकले पर मुल्क के लिये यह फायदेमंद होगा और इसलिये ऐसी कोशिश होनी ही चाहिए।"[1] एक ऐप्रिल 1934 को इण्डियन चैंबर ऑफ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्री (फिक्की FICCI) की सालाना बैठक में बोलते हुए जी. डी. बिड़ला ने आर्थिक योजना की महत्ता पर जोर

दिया और भारत में भी आर्थिक योजना अपनाए जाने की वकालत की[2] इसी साल मैसूर की देशी रियासत के तत्कालीन दीवान सर एम. विश्वेश्वरैया ने एक पर्चा 'प्लेन्ड इकॉनॉमी फॉर इण्डिया' नाम से प्रकाशित किया।

कांग्रेस ने 1938 में जवाहर लाल नेहरू को, राष्ट्रीय योजना समिति गठित करते हुए इसका अध्यक्ष नियुक्त किया। इसे कांग्रेसी और गैर कांग्रेसी–सभी प्रांतीय सरकारों के साथ ही हैदराबाद, मैसूर, बड़ौदा, ट्रावणकोर और भोपाल जैसी कई देशी बड़ी रियासतों के राजे–महाराजों का भी सहयोग प्राप्त था। भारत सरकार ने भी इसे अपना सहयोग दिया और इसकी बैठकों में शामिल होने के लिये अपना प्रतिनिधि भेजा। समिति में भारत की बड़ी पूँजी का प्रतिनिधित्व बहुतायत में बिराजमान था। इसके मेंबरों में थे–सर पुरुषोत्तमदास, ठाकुरदास, ए. डी. सर्राफ, अंबालाल साराभाई और बालचंद हीराचंद और कमेटी का सैक्रेटेरिट मुहैया कराया गया था टाटा समूह द्वारा, जिनके एक कर्जे की बदौलत ही इसकी कई उप–समितियों की रिपोर्टें छपाना मुमकिन हो पाया था।[3]

1942 में 'भारत छोड़ो' आंदोलन के दौरान, बड़े दलाल पूँजीपतियों ने आर्थिक योजना के एक ड्राफ्ट को तैयार करने का बीड़ा उठाया जिसका ज्यादातर खर्चा टाटा समूह द्वारा उठाया गया था। इस प्लेन का पहला हिस्सा–*भारतीय आर्थिक विकास योजना की रूपरेखा का एक संक्षिप्त स्मरण पत्र* जिसे आमतौर पर *बोम्बेप्लेन* के नाम से पुकारा जाता है–जनवरी 1944 में और दूसरा हिस्सा उसी साल दिसम्बर में प्रकाशित हुआ। इसी दरमियान, इस योजना के एक लेखक, टाटा आईरन एण्ड स्टील के प्रबंध–निदेशक, सर अर्देशिरदलाल को वाइसरॉय की कार्यकारी कौंसल का सदस्य नामजद किया गया और उन्हें भारत सरकार के एक नये विभाग–प्लैनिंग एण्ड डिवेलपमंट की जिम्मेदारी सौंपी गई। इस पंद्रहवर्षीय योजना के अन्य लेखकों में थे–सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास, सर जे. आर. डी. टाटा, जी. डी. बिड़ला, सर श्रीराम, कस्तुर भाई लाल भाई, ए. डी. सर्राफ और जॉन मथाई। इस योजना को अमली जामा पहनाने के लिये बड़े बूर्जूआजी दो बैसाखियों के सहारे थे–एक पाया था साम्राज्यवादी पूँजी और दूसरा था राज्य; इसने साम्राज्यवादी देशों से पूँजीगत उपकरणों, तकनीकी ज्ञान और कर्ज–पूँजी की जरूरतों पर जोर दिया और यह निर्भर थी राज्य द्वारा–विशाल वित्तीय घाटे की–'सर्जितमुद्रा' पर राज्य की मिल्कियत वाले औद्योगिक क्षेत्र पर, जिसकी बुनियादों पर ही फलने–फूलने थे उनके उद्योग जिनके बीजों से अभी हाल ही में हरी कोंपलें फूटी थीं। इस योजना ने राज्य के साथ ही साथ राज्य के मालिकाने और

बाजार की ताकतों का बखूबी प्रतिनिधित्व करने वाले ताकतवर उद्योगपतियों और ब्रितानी उपनिवेशवादियों ने भी बोम्बे–प्लेन और जंग बाद ब्रितानी–भारतीय सरकार द्वारा तैयार योजना के मसौदे की इस सिफारिश को अमल में लाने की जोरदार मांग की कि इसमें हुकूमत की दखलंदाजी होनी ही चाहिए। यातायात, संचार, माईनिंग, ऊर्जा–उद्योग आदि आधारभूत उद्योगों के साथ ही साथ लंबी अवधि में लाभ देने वाले मशीन–निर्माण उद्योगों को खड़ा करने का जिम्मा भी राज्य का ही होना चाहिये। कि इसी से वो नींव तैयार की जा सकेगी जिस पर भारतीय बड़े बूर्जूआजी और उनकी शाखें, सहयोगी कंपनियाँ या फिर बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा नियन्त्रित दूसरी कंपनियाँ अपना निजी साम्राज्य खड़ा करेंगी। सरकारी हस्तक्षेप, सहायता और संरक्षण के बगैर न तो भारत की बड़ी पूँजी को और न ही साम्राज्यवादी पूँजी को वह मौका हासिल होगा जिसका वे बड़ी बेसब्री से इंतजार कर रहे हैं। आमूल भूमि–सुधारों से नफरत की गयी क्योंकि ऐसे *इंकलाबी कदम से तो एक सोया हुआ* महाबली जाग जाता और इस स्टेट्स–कौ (यथास्थिति) को नेस्तनाबूद कर देता। और इसके अलावा भी, विदेशी वित्तीय पूँजी और भारतीय दलाल वर्गों द्वारा कल्पित विकास के इस आड़े–तिरछे रस्ते के लिये भूमि–सुधार और सस्ते पारिश्रमिक मालों की ख़रीद फ़रोख़्त के लिये एक बड़े बाजार की स्थापना तो बिल्कुल ही गैर जरूरी थी। (असल में ऐसे सुधारों से तो ऐसी ताकतों की पैदाइश हो जाती जिनसे साम्राज्यवादी पूँजी को एक संभावित खतरा पैदा हो जाता !) उन्हें उम्मीदें थीं कि इन योजनाओं से, जिन्हें नेहरू "जनतांत्रिक योजना" कहते थे, उनकी उम्मीदें पूरी होंगी और उनका तेजी से बढ़ाव और फैलाव हो सकने में मदद मिलेगी। वे आशा करते थे कि इनके फायदों का कुछ हिस्सा रिसकर आम जनता तक भी पहुँचेगा जो उनके असंतोष को दबायेगा, सामाजिक स्थायित्व को बनाये रखेगा और कौम्युनिज़्म के भूत को मार भगायेगा। जैसा कि आगे हम देखेंगे कि इन योजनाओं ने उनकी शानदार बढ़त और फैलाव को तो विकसित किया मगर शहरी पैटीबूर्जूआजी और किसानों के ऊपरी स्तर के एक छोटे से वर्ग के सिवाय फायदों का कोई भी हिस्सा मुश्किल से ही आम जनता तक पहुँचा है।

जिस भांत की विकास योजनाओं को भारतीय शासक वर्गों ने हाथ में लिया है उसे वे "जनतांत्रिक योजना" कहते हैं। 15 सितम्बर 1954 को भारत के विभिन्न राज्यों के मुख्यमंत्रियों को नेहरू ने लिखा :

"यह एकदम साफ है कि हम तानाशाही के ढंग से आगे नहीं बढ़ सकते हैं, जैसा कि सोवियत–यूनियन में है और यहाँ तक कि जो चीन में भी है। इसलिये

जंग के खात्मे पर जो परेशानकुन हालात चीन में थे ठीक वैसे ही हालात हिंदुस्तान में भी हैं। उनकी दलील थी कि देरी किए बगैर कड़े कदम उठाने होंगे। इसमें पहला कदम तो यही है कि एक एकीकृत राष्ट्रीय योजना के विकास के लिये एक केंद्रीय ऐजन्सी का गठन किया जाए.....ट्रौन ने पूँजीगत माल आधारित उद्योगों, खासकर आतिरिक्त स्टील प्लांटों, एक मशीनटूल कारखाने और बिजली पैदावार के औजारों को बनाने के उद्योगों की जरूरत पर जोर दिया जिन पर सैकण्डरी इण्डस्ट्रीज (द्वितीयक उद्योग) की नींव रखी जानी थी। उन्होंने कई अलहदा किस्मों के काश्तकारी काऑपरेटिव्ज के गठन की भी जोरदार तरफदारी की। और कि *आर्थिक विकास आंशिकतः विदेशी कर्जों से वित्तपोषित होंगे* मगर भारतीय जनता के सभी हिस्सों को इसके लिये कुछ कुर्बानियाँ देनी होंगी.....हालाँकि ट्रौन के सुझाव जल्दी ही नहीं मान लिये गये मगर वे पहले और खासकर दूसरे पाँच साला प्लान के राय–मशविरों में बार–बार सामने आने थे।[8]"

1947 में सत्ता हस्तांतरण के बाद फौरन ही हिंदुस्तानी हुक्कामों ने अपने आप को जिन हालात–कारोबारी मंदी, पूँजीगत माल उद्योगों का अभाव, औद्योगिक विकास के लिये इंफ्रास्ट्रक्चर का अभाव–में फँसा पाया तो उन्होंने महसूसा कि इस मुश्किल घड़ी का इलाज तो सिर्फ आर्थिक योजना पद्धति में ही है। फिर भारत के सियासी और संभ्रांत व्यापारी वर्ग पर सोवियत पाँच साला योजनाओं का भी भारी असर पड़ा था जिन्होंने एक पिछड़ी अर्थव्यवस्था वाले मुल्क को एक औद्योगीकृत मुल्क में तब्दील कर दिया था। तभी चीन में इंकलाबी बदलाव ने इस मामले को और भी तेजी दे दी। 1951 में, भारत में तत्कालीन अमरीकी राजदूत चैस्टर बोएल्ज ने नेहरू को सुझाव दिया कि : आज का मौजूँ सवाल तो यही है कि देहाती इलाकों में चल रही कोशिशों को भारी पैमाने पर एकजूट किए बगैर ही क्या एशियाई–जनतन्त्र एशियाई–कौम्युनिजम का मुकाबला कर पाएगा. ?.....इस पर नेहरू ने कहा कि इतिहास ने हिन्दुस्तान को जनवाद के ख़ास इम्तिहान की एक जमीन के रूप में चुना है, और यह एक ऐसा मुकाबला है जिसका हिंदुस्तान और वे खुद भी इस्तकबाल करते हैं, यह एक ऐसी चुनौती है जिसमें आमने–सामने की टक्कर होगी ही..... इसी तरह करीब दो घंटों तक हम लोग कई रोमांचकारी संभावनाओं के बारे में बातचीत करते रहे।"[9]

भारत के हुक्कामों ने यह महसूस किया कि उनकी न्यूनतम आधारभूत (इंफ्रास्ट्रक्चर) जरूरतों को मंदी की चपेट में आये अर्ध–उपनिवेशी, अर्ध–सामंती मुल्क के बाजार की ताकतों के रहमो–करम पर नहीं छोड़ा जा सकता है,

आधारभूत उद्योगों, सार्वजनिक उपयोगिताओं आदि के राजकीय व्यवस्थापन द्वारा 'दखल रखने और काबू पाने के काफी कदमों की' जरूरत को भी लाजिमी माना था। इस योजना में निजी और राजकीय, दोनों ही क्षेत्रों के सहअस्तित्व की–मिश्रित अर्थव्यवस्था' की–परिकल्पना थी। और इसीलिए उन्होंने दृढ़ता से स्वीकारा था कि *"सरकार को आर्थिक जीवन का हरेक पहलू अमली तौर अपने पर प्रचण्ड नियन्त्रण में रखना होगा चाहे इससे वैयक्तिक आजादी और धंधे–रोजगार की आजादी भी एक अस्थायी ग्रहण की जद में ही क्यों न आ जाए[8]"*

योजना की आलोचना करते हुए प्रफेसर पी. ए. वाडिया और प्रफेसर के. टी. मर्चेन्ट ने कहा :

"एक राष्ट्रीय सरकार, जो हमारे लेखकों के खयालों में है, असल में पूँजीवादी हितों का ही प्रतिनिधित्व करने वाली और उन्हीं के इशारों पर नाचने वाली सरकार होगी।" आगे उनका गौर था कि "भारत का आर्थिक ढाँचा कुछेक ट्रस्टों के ही कब्जे में है जो हुकूमत की मदद के बलबूते मौजूदा उद्योगों में से पैदा होने वाले नये प्रतियोगियों का सफाया कर देंगे और खुद के ही नये उद्योगों के लिये मैदान साफ कर देंगे।"

वाडिया और मर्चेंट ने यह भी कहा :

"इस योजना के कलमकार भविष्य में जिस निवेश का पूर्वानुमान कर रहे हैं वह असलियत में साफतौर पर विदेशी सरमायेदारों और खुद उन्हीं के बीच लाभ–कमाने के आधार हेतु एक पवित्र गठजोड़ है, जिसका हमें भूतकाल में भी और वर्तमान में भी इतना कड़वा अनुभव हो चुका है[8]"

दूसरी ओर इसके छपने के फौरन बाद उस वक्त जेल में बंद नेहरू ने निहायत खुशी से इसकी काफी तारीफ की। उन्होंने इसकी जय–जयकार करते हुए "हाल के दिनों में भारत के लिये इसे बेइंतहा खुशी और उम्मीद के निशानों में से एक निशान बताया और प्रफेसर के. टी. शाह द्वारा इसकी आलोचना पर अपनी नाराजगी जाहिर की'

बोम्बे प्लेन, साम्राज्यशाही रणनीति के खाँचों में बिल्कुल दुरूस्त बैठता था। इसीलिए नेहरू की भाँति ही, स्टैट सैक्रेटरी एल. एमरी और ब्रितानी सांसद शुस्टर ने बोम्बे प्लेन का गर्मजोशी से स्वागत किया।[8]

25 जनवरी 1945 को स्टैट सिक्रेटरी एमरी ने वाइसरॉय वैवल को लिखा–

"यूनाइटेड किंगडम के व्यापारिक हित अच्छी तरह समझते हैं कि हिंदुस्तान में उनका भविष्य हिंदुस्तानियों के साथ सहयोग में ही निहित हैं। वे भारत के कारोबारी फैलाव में मदद देने के लिये लालायित है। और जैसा कि उनका यकीन

है कि अगर ठीक ढंग से संगठित किया जा सके तो यूनाईटेड किंगडम के मालों के लिये भारतीय बाजारों के फैलाव से न सिर्फ उनको बल्कि भारतीयों को भी काफी फायदों की उम्मीद हैं.....यूनाइटिड किंगडम के व्यापारी.....वर्तमान दौर में भारत की औद्योगिक आकांक्षाओं के प्रति बहुत ही झुकाव रखते हैं.....मेरा ऐसा मानना है कि युनाइटिड किंगडम और भारत के तिजारती फायदों के मद्देनजर भारत में संयुक्त उपक्रम लगाने के लिये कई किस्मों की आपसी बातचीत भी चल रही है।"

एमरी ने अपने दफ्तर और बोर्ड ऑफ ट्रेड द्वारा संयुक्त रूप से तैयार किये गये एक मेमोरेण्डम जिसे फेडरैशन ऑफ ब्रिटिश इण्डस्ट्रीज ने अपने कुछ सदस्यों को जे. आर. डी. टाटा और जी. डी. बिड़ला के नेतृत्व में भारतीय सरमायेदारों के एक डेलिगेशन की संभावित ब्रिटेन यात्रा के मद्देनजर बितानी हुकूमत के नजरिये को खुलासा करने वाले गुप्त दस्तावेज के रूप में जारी किया था, को भी इस संदेश के साथ नत्थी किया। मेमोरेण्डम के मुताबिक :

"अब यू. के. भारतीय अवाम को सस्ती उपभोक्ता सामग्री की माँग पूरने वाला प्रमुख आपूर्तिकर्ता नहीं रह गया है। लेकिन अब युद्धोपरांत अपनी माली हालत को स्थायित्व देने के लिये यह बहुत ही फौरी जरूरत है कि हम अपने निर्यात को बढ़ायें और एक आम खुशहाली लायें। *समन्दर पार बाजारों के हालात में हो चुके बदलावो और लगातार हो रहे बदलाव हमसे मांग करते हैं कि अगर हम अपने इरादों मे कामयाब होना चाहते हो तो हमें इन बदलावों के लिहाज से अपनी आर्थिक नीतियो को ढ़ालने में तेजी दिखानी होगी।* भारत के मामले में तो यह साफ जाहिर होता है कि भारत में भविष्य में हमारी संभावनाएँ *–(1) मशीनरी, इक्विपमेंट, भण्डारण, सह सामग्री और अर्ध निर्मित सामग्री की मांग में लगातार बढ़ोतरी जो कि फैलते–बहुमुखी होते भारतीय उद्योग जगत द्वारा मांगी जायेगी,* और (2) भारतीय उपभोक्ताओं में तेजी से पनपते एक परिष्कृत वर्ग की पैदाइश जो कि पश्चिमी सुख–सुविधाओं को अपनाने के कारण शहरी आबादी के जीवनस्तर में तीव्र वृद्धि करेगी;

इन ही दो कामों को अंजाम देने और सचमुच ही उन्हें आगे बढ़ाने में है–पहला काम हमारे पूँजीगत मालों के क्षेत्रों और औद्योगिक विशिष्टता के अवसरों को बढ़ायेगा। दूसरा काम गुणात्मक उपभोक्ता मालों के उत्पादन को गति देगा.....दोनों ही लिहाजों से, भारत के आर्थिक औद्योगीकरण से एक विशाल बाजार खोला जा सकता है.....।"

"मुमकिन है कि हिन्दुस्तान में तेजी से बदलते हालात के मद्देनजर ब्रितानी फर्में यह जरूरी समझें कि वे हिन्दुस्तान में उन मालों का उत्पादन करें जो यहाँ सस्ते बन सकते हैं, और चूँकि ऐसा न करने पर हरेक हाल में यह मुमकिन है कि ऐसे माल

करने के लिये उनका इरादा था बगैर किसी प्रभावी भूमि सुधारों को लागू किये और बगैर भारतीय अर्थव्यवस्था पर साम्राज्यवादी जकड़न को तोड़े ही, यानि भारत के पिछड़ेपन और अधो–विकास के मूल कारणों पर हल्ला बोले बगैर ही! के. एस. शेवलंकर इसे यूँ बयाँ करते हैं : हिंदुस्तानी गुरबत की हकीकी वजहों को बीमारियों या अनपढ़पन में नहीं तलाशा जाना चाहिये–चूँकि ये तो सिर्फ निशानियां हैं और ना ही हिंदुस्तानी रस्मों–रिवाजों और यकीनों में या फिर आबादी के आँकड़ों में, बल्कि सिर्फ और सिर्फ आर्थिक ढाँचे में ही तलाशना चाहिये कि जिस पर सारे मुल्क की जिंदगी टिकी है।"[6] लेकिन पिछड़ापन भारतीय योजनाकारों और नीति–निर्माताओं ने तो पिछड़ापन और अधोविकास जनमने वाले इस आर्थिक ढांचे को नेस्तनाबूद किए बगैर ही इसी की जगह पर नया ढांचा खड़ा करने की कोशिशों में और भी ज्यादा विदेशी–पूँजी और नयी तकनीक की मदद से भारत को औद्योगीकृत और आधुनिक करने की कोशिश की। अपने वर्ग चरित्र के अनुरूप ही भारत के शासक और उनके समर्थक उसी–विकास–सिद्वांत की लकीर के फकीर हैं जो न सिर्फ खुद उनके अपने ही स्वार्थों बल्कि साम्राज्यवादी पूँजी के हित को भी साधते हैं–इस सिद्धांत के अनुसार गरीब, अधो–विकसित देशों को अपने "अवरूद्ध–पिछड़ेपन" से उबरने के लिये विदेशी पूँजी के दीर्घकालीन आयात करने की आवश्यक शर्त को मानना ही होगा।

सत्ता हस्तांतरण के बाद नेहरू ने आर्थिक–योजना को अमल में लाने की जोरदार वकालत की थी लेकिन पटेल इस बारे में उदासीन ही रहे थे। इस बारे में फैंसाईन फ्रैंकल ने लिखा :"नेहरू ने 1949 के आखिर में एक बार फिर योजना आयोग की स्थापना का सवाल उठाया, मगर इस बार एक अमेरिकी सलाहकार की ऐसी ही समान सिफारिश से मिले *अतिरिक्त बल के साथ।*"[7]

और ये सलाहकार थे डॉ. सोलोमन ट्रौन, अमेरिकी इंजिनियर, जिन्होंने 1949 के बसंत से 1950 की गर्मियों तक नेहरू के निजी सलाहकार की भूमिका निबाही। इन्हें, पहली आलमी–जंग के दौरान, जनरल इलैक्ट्रिक कॉर्पोरेशन ने खुद अपने ही खर्चे पर जारशाही रूस में तैनात किया था। इन्होंने जापानी और च्याँगकाई शैक के शासन में चीन सरकारों के औद्योगिक सलाहकार की भूमिका भी निभाई थी। नेहरू के जीवनीकार, माईकेल ब्रैशर के अनुसार, "चीन में कौम्युनिस्टों के सत्ता में काबिज होने के बाद भारत पहुँचकर ट्रौन ने भारत की आर्थिक स्थिति के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन किया और नेहरू और उनकी मण्डली को खबरदार किया कि दूसरी आलमी

या फिर कई राष्ट्रों एवम् राष्ट्रीयताओं का निवास है? इस सवाल पर अपने विचारों को मैं *भारत में राष्ट्रीयता की समस्या एवम् शासक वर्ग* (कलकत्ता, 1996) नामक एक पुस्तिका के रूप में अलग से विशद वर्णन कर चुका हूँ।

और फिर कौनसे वर्ग–पश्च उपनिवेशी भारत में शासक वर्ग बने? उपनिवेशीराज के दौर में ब्रितानी सामराजियों ने सिर्फ कुछेक खास वर्गों को ही पाला–पोसा था– और वे थे भारत के बड़े बूर्जूआजी और सामंत–ताकि वे खुद के स्वार्थों को संरक्षित और उनको आगे बढ़ा सकें। वक्त बीतने के साथ यही वर्ग ब्रितानी राज की वफादारी से चाकरी करते हुए भारतीय समाज के प्रभुत्वशाली वर्ग बन गये। और जिसे हिंदुस्तान की आजादी कहा जाता है वो किसी कामयाब सियासी इंकलाब का नतीजा नहीं बल्कि ब्रितानी सामराजियों, कांग्रेस और मुस्लिम लीग लीडरान के बीच एक समझौते का नतीजा है जिसे "माउण्टबैटन–पैक्ट" के नाम से पुकारा जाता है। ब्रितानी साम्राज्यवाद ने दूसरे विश्वयुद्ध के बाद बदली हुई अंतरराष्ट्रीय और राष्ट्रीय हालात में सीधी हुकूमत को चलाना जब नामुमकिन जाना तो उसने सीधे इस हुकूमत की लगाम को इन देशी वर्गों के 'दोस्तानां और भरोसेमंद हाथों' में सौंप दिया जो कि इसी की चाकरी करते हुए खासे खुशहाल हो गये थे, और लंबे अर्से से जाँचने–परखने के बाद सिर्फ इसी वर्ग को ही ब्रितानी साम्राज्य ने इस भरोसे का पाया कि सिर्फ ये ही वर्ग साम्राज्य के वास्तविक हितों की हिफाजत कर सकेंगे। माउँटबेटन समझौते के साम्प्रदायिक आधार पर उपमहाद्वीप का दो नये मुल्कों में बनावटी–बंटवारा हुआ और दोनों को स्वतंत्र–उपनिवेश (डोमिनियन) राज्य का दर्जा मिला। बड़े दलाल–पूँजीपति वर्ग और सामंत जो कि ब्रितानी औपनिवेशिक राज के सामाजिक ~~समर्थक~~ (Social Props) थे, उपनिवेशी राज्यों–भारत और पाकिस्तान के हुक्मराँ बन बैठे।[5]

इसलिए, चीन के विपरीत, भारत में जमींदारी का खात्मा नहीं किया गया और न ही भारत पर औपनिवेशिक पूँजी के असर का खात्मा किया गया। बल्कि 1947 के बाद तो इसे बेड़ियों में और भी ज्यादा जकड़ दिया गया। लंबे उपनिवेशी राज के दौर में हिंदुस्तान की पिछड़ी और औंधी तरक्की की वजहों को, जिन्होंने हिंदुस्तान के विकास को मंदा और बेडौल कर दिया है –खत्म नहीं किया गया। लेकिन फिर भी भारतीय योजनाकार लगातार अपने योजना लक्ष्यों में – गरीबी, निरक्षरता, बेरोजगारी का खात्मा करने और एक प्रगतिशील, आत्मनिर्भर, समाजवादी समाज का निर्माण करने की स्वाँगभरी–लच्छेदार बातें बघारने में मशगूल रहे। और यह सब हासिल

अमरिका या फिर योरप महाद्वीपीय दिशा–निर्देशों के तहत हिन्दुस्तानी फर्में उत्पादित करें.....बीते दस सालों के दौरान पैदा हुए बाजार पर जितना संभव हो सके उतना, उत्पादक के उत्पादनों द्वारा, उस विस्तृत क्षेत्र पर कब्जा बरकरार रख सकने की एक शर्त के रूप में, देशी उत्पादन का यह तरीका, अंशतः एक लाभकारी निवेश के रूप में, लेकिन मुख्यतः फर्म द्वारा अपने मुख्य उत्पादन, उच्च श्रेणी मालों के आयातों द्वारा अपने व्यापार को बरकरार रखने और फैलाने के लिए और दोनों मुल्कों के फायदों में देशी उत्पादन को दिशा निर्देशित कर सके.....।

"भारतीय पूँजी, प्रभाव और कारोबार के साथ गठजोड़ के फायदे तो खुद बखुद जाहिर है।"[9]

"आपसी गठजोड़ से भारतीय उद्योगों की तरक्की के लिए..... ब्रितानी इजारेदार और भारतीय दलाल, दोनों ही 'संयुक्त प्रबन्ध' के लिए नजदीक आने को कसमसा रहे थे। एक नया दौर शुरू हो चुका था, श्रम के अन्तरराष्ट्रीय विभाजन का। महानगरीय सभ्यता के मुल्कों–खासकर ब्रिटेन के लिए, श्रम के पुराने अन्तरराष्ट्रीय विभाजन के तहत, हिन्दुस्तान उसके औद्योगिक मालों का एक बाजार और कच्चे मालों की एक निर्यातक मण्डी था। औपनिवेशिक भारत में कुछ ब्रितानी पूँजी बागानों में भी लगी थी। जिनकी ज्यादातर पैदावार इरादतन निर्यात के लिए थी और रेलवे में भी, जो कि खासकर ब्रितानी पूँजी को इसके आयात–निर्यात के धंधे में अपनी चाकरी दे सके, कोयला खदानों में भी, *जिनकी ज्यादातर* निकासी रेलवे द्वारा ही खर्ची जा सके। और इंजिनियरिंग वर्कशापों में ताकि उनके उपकरणों–मशीनों की टूट–फूट की मरम्मत की जा सके। कुछ ब्रितानी सरमायेदारों के साथ सहजीवी कुछ बड़े भारतीय उद्योगपतियों ने घरेलू उपभोग के लिए टैक्सटाइल जैसे उपभोक्ता उद्यम शुरू किये, जिनकी मशीनें तकनीकी जानकारियाँ और प्रबंधक और टैक्नीशियनों को साम्राज्यशाही मुल्कों से आयात किया गया था।

अन्तरराष्ट्रीय श्रम–विभाजन के नये खुलते आसमान में शहरी बूर्जूआजी और भारतीय दलाल उद्योगपति, दोनों ही अपने फायदों के लिये न सिर्फ उपभोक्ता मालों के उद्योगों को सामराजी दिशा–निर्देशन में निर्मित करने के लिए गहरी साझेदारी की उम्मीदें कर रहे थे बल्कि यह भी कि इनका निर्देशन और नियन्त्रण साम्राज्यवादी देशों स्थित भीमकाय अन्तरराष्ट्रीय निगमों और परिष्कृत तकनीक जो कि सत्ता की कुँजी भी है, के पास ही रहना था और यह उनकी ही इजारेदारी बनी रहनी थी।

और एक मजेदार बात हुई 1945 में जब भारत सरकार की पुनर्निर्माण समीति ने *पुनर्निर्माण योजना पर दूसरी रिपोर्ट* पेश की। इस पंद्रह वर्षिय 'अवलोकनात्मक'योजना जो कि ए. एच. हैन्सन के लफ्जों में 'अपनी बनावट में

समाजवादी (1) भी थी; के दीगर इरादों के अलावा "बेइन्तहा दौलत के संग–संग तकलीफदेह गरीबी के बीच मौजूद विषमता" को दूर करना, गरीबों और मजदूरों के लिए ईमानदारी से काम करना, लघु और कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहित करना, 'नये और जरूरी' विशाल उद्योगों "जिनके लिए निजी पूँजी आगे नहीं आ रही होगी" पर राज्य का मालिकाना, पंचायतों और कोऑपरैटिव सोसाइटीज़ के मार्फत देहातों की तरक्की में आम भागीदारी जैसे लक्ष्य भी शामिल थे। इस पर हैन्सन की टिप्पणी थी, "अगर कोई 1950 के दशकों की पाँच–साला योजनाओं में किन्हीं ऐसे अलग मौलिक लक्ष्यों या तरीकों को ढूंढने की कोशिश करे जो कि ब्रितानी हुकूमत के आखिरी दिनों के इस शानदार दस्तावेजी काम में नज़र नहीं आते हों तो वह कोशिश बेकार ही साबित होगी।"[10]

ऐप्रिल 1945 में भारत सरकार के योजना एवम् विकास विभाग ने औद्योगिक नीति पर एक बयान जारी किया। इसने घोषित किया कि– "सरकार भविष्य में देश के आर्थिक विकास में सक्रिय भागीदारी करेगी।" कि वह "देश के औद्योगिक विकास के लिए ज्वलन्त महत्व के" 20 उद्योगों को केन्द्र सरकार के नियन्त्रण में ले आयेगी और यहाँ तक कि उनका राष्ट्रीयकरण कर देगी अगर उनमें "काफी मात्रा में नीति पूँजी निवेश नहीं बढ़ रहा होगा।" और कि "नये उद्योगों को लाइसेंस देने का काम सरकार को अपने हाथ में ले लेना चाहिये" पूँजीगत मामलों समेत कई तरह के नियन्त्रणों के सरकारी नियन्त्रण में लेने के लिये विस्तारित विचार करते हुए कहा गया कि "एक नियोजित अर्थव्यवस्था में "कन्ट्रोल के बगैर कुछ कर पाना नामुमकिन है।" इसमें दस्तूरन "औद्योगिक विकास द्वारा पैदा की गई अतिरिक्त समृद्धि" को "सामाजिक न्याय" के "उपयोग से अछूते बँटवारे के रूप में मानव व भौतिक संसाधनों" के "अधिकतम और अतिप्रभावी उपयोगों" और "आम जनता के जीवन स्तर में" बढ़ोतरी जैसी तमाम बासी और फीकी बातें मौजूद थीं।[11]

इससे पहले 16 ऐप्रिल को कार्यकारी वाइसराय बड़े लाट जॉन कॉलविलि ने एमरी को खबर दी कि वाइसराय की कार्यकारिणी सभा ने एक फैसला– "आयुध कारखानों, सार्वजनिक सुविधाओं और रेल्वे के साथ ही राष्ट्रीय महत्व के आधारभूत उद्योगों का भी राष्ट्रीयकरण कर दिया जायेगा अगर उनमें काफी मात्रा में निजी पूँजी नहीं बढ़ रही होगी और अगर ऐसे उद्योगों का राष्ट्रीयकरण देशहित में जरूरी समझा जाए। सरकारी पॉलिसी की गरज से एयर क्राफ्ट, ऑटोमोबाइल और ट्रैक्टर, कैमिकल और रंग, लोहा और स्टील, मशीन टूल्ज, इलैक्ट्रोकैमिकल्ज और अलौह धातु उद्योगों को

सामराजी मालिकों ने 'विकास' योजनाओं का एक ख़ाका भी तैयार कर लिया था जो कि साररूप में बोम्बेप्लेन या नेहरू–राज में पश्च–उपनिवेशी दौर की योजनाओं के ख़ाके से जरा भी बेमेल नहीं था– जरा भी अलग नहीं था।

यहाँ पर जोन मथाई, (जो बोम्बेप्लेन के ही एक और लेखक और 1946–47 में अंतरिम सरकार तथा सत्ता–हस्तांतरण के बाद केंद्रीय कैबिनेट में नेहरू के सहयोगी रहे थे) द्वारा 16 मई 1956 के *टाईम्ज़ ऑफ इण्डिया* के अंक में जो लिखा गया था उसे दर्शाया जा सकता है; *"सामुदायिक कार्यक्रमों के अलावा, पहली योजना में शामिल सभी प्रोजिक्ट्स का ख़ाका राष्ट्रीय सरकार के सत्ता में आने से बहुत पहले ही आंशिक रूप में तैयार किया जा चुका था यानि ठीक औपनिवेशिक राज के दौर में ही।*[4]" दूसरे तमाम मामलात की तरह ही 'विकास' योजनाओं में भी औपनिवेशिक और पश्च–औपनिवेशिक शासनों के बीच एक निरन्तरता है।

दूसरा ये कि उपनिवेशी राज की नौकरशाही पश्च उपनिवेशी सत्ता में भी जस की तस कायम रही। जैसे भारतीय प्रशासनिक सेवा के एक वरिष्ठ सदस्य सर वी.टी. कृष्णामाचारी 1953 से 1960 के बीच योजना आयोग के उपाध्यक्ष थे; भारतीय प्रशासनिक सेवा के ही एक और सदस्य सर एन.आर. पिल्लई आयोग के सचिव रहे थे और इसी के एडिशनल सिक्रैटरी रहे तरलोक सिंह भी आई.सी.एस. के ही एक मेंम्बर थे। पार्थ चटर्जी के मुताबिक यही थी वो नौकरशाही, जो कि बितानी–भारतीय साम्राज्य के लिये "स्टील का चौखटा" रह चुकी थी जो खुद को एक सार्वभौमिक वर्ग के रूप में पेश करती थी (अब इसका चाहे जो भी मतलब हो!) और जो "राष्ट्र के सार्वभौमिक लक्ष्य के लिये" काम करती थी।"

तीसरा यह कि क्या राष्ट्र नामक इकाई वाकई में वर्ग–भेदों से रहित सत्ता होती है और क्या इसका एक सार्वजनीन व्यापक लक्ष्य हो सकता है? और फिर ये "सार्वभौमिक लक्ष्य" क्या हैं? क्या राष्ट्र मूल रूपेण ही वर्ग–विभाजित नहीं होता है, जिसमें से कुछ तो शोषक वर्ग होते हैं और कुछ शोषित वर्ग? क्या उनके लक्ष्य एक ही समान हो सकते हैं? क्या "समूची अवाम (अगर शोषक और शोषित दोनों ही वर्गों को इसमें जोड़ लिया जाए तो) की खुशहाली" की बात सिर्फ एक खयाली–पुलाव नहीं है ? हकीकत तो ये है कि वर्गों में बंटे हुए समाज में कथित वर्गहीन पहुँच का रास्ता असल मे शोषक–वर्गों की खुशहाली को ही बढ़ावा देने का तरीका है न कि सम्पूर्ण आम जनता का।

तो आखिरकार सवाल यह है : क्या भारत में सिर्फ एक ही राष्ट्र है

सामूहिक–जीवन–बीमा द्वारा की गई है। ज़ियादातर के बच्चे न सिर्फ स्कूलों में हैं बल्कि उनकी तालीम भी अच्छी हो रही है, उनमें से अधिकांश को स्वास्थ्य और परिवार–कल्याण कार्यक्रमों की मूलभूत सुविधाएँ हासिल हैं।"[2]

बाहरी और भीतरी दुश्मनों से घिरा होने के बावजूद भी, माओत्सेतुंग की रहनुमाई में चीनी अवाम ने, एंगेल्स और दूसरे स्वप्न दृष्टाओं के सपनों के अनुरूप समाज को ढालने की कोशिशें की। आर्थिक सामाजिक, नैतिक और सांस्कृतिक हरेक क्षेत्रों में भारी कामयाबियाँ हासिल की गयी लेकिन दुश्मन सियासी ताक़तें ज्यादा ताकतवर साबित हुई और उन्होंने घड़ी को उल्टा घुमा दिया। लेकिन फिर भी यह 'एक्सपेरिमेंट' आदमी की यादों में बसा रहेगा और दुनिया भर के लोगों में एक लौ जलाता रहेगा उस वक्त तक, जब तक कि वे अपने सपनों की मंज़िल को हासिल नहीं कर लेते।

लेकिन इसके उलट 1947 में भारत–राज्य की पैदाइश के खास ढंग ने इसके विकास की रणनीति के चुनाव के विकल्प को सीमित कर दिया। भारत के बारे में चिंतन करते हुए पार्थ चटर्जी जैसे कुछ समाजशास्त्रियों की मान्यता है कि– "साम्राज्यवाद पश्च राज्य के रूप में अपनी एकाकी इच्छा और चेतना का वैधानिक दावा–यानी एक राष्ट्र राज्य के रूप में दावा–योजना प्रक्रिया अपनाये जाने से ही सर्वोपरि ढ़ंग से प्रकट होता था–यानि ऐसे काम को हाथ में लेने से जो ना सिर्फ भौतिक था बल्कि तर्कसंगत भी था–यानि समूची जनता का कल्याण।" और आगे :

"पश्च–औपनिवेशिक राज्य का मूलसार तत्त्व संपूर्ण राष्ट्रीय समाज के "व्यापक विकास कार्यक्रम" में ही छिपा था। और इसी के भीतर ही विकास के लिए आवश्यक प्रशासन की एक नयी तकनीक को भी ठोस ढंग से स्थापित करना था, यह एक ऐसी चीज थी जो औपनिवेशिक –राज्य में कभी भी नहीं थी क्योंकि वह राज्य अलगाववादी और शोषक चरित्र का था। सिर्फ विकास प्रशासन प्रणाली में ही पश्च–औपनिवेशिक राज्य की नौकरशाही अपने आप को एक सार्वभौमिक वर्ग के रूप में स्थापित करती और अपनी निजी आकांक्षाओं की पूर्ति भी वह राष्ट्र के सार्वभौमिक लक्ष्यों के लिये काम करते हुए संतोषजनक ढ़ंग से प्राप्त करती [3]

लेकिन अव्वल तो (पार्थ चटर्जी का–अनु.) यह दावा ही गलत है कि सामराजी हुकूमत ने कोई "विकासात्मक" प्रशासन स्थापित नहीं किया था ! इसके उलट इस राज ने खुद जंग के दौरान ही पुर्ननिर्माण समितियाँ और इसके खात्मे के करीब ही योजना एवम् विकास विभाग की स्थापना की थी। बोम्बे प्लेन के एक रचनाकार, सरअर्देशिर दलाल, जो कि इस विभाग के एक सदस्य भी थे, उन्हीं पर इस विभाग का कार्यभार भी था। सच तो ये है कि

आधारभूत उद्योगों के रूप में परिभाषित किया जा सकता है" –लिया है।[12] यानी नेहरू के "समाजवादी पैटर्न" और औपनिवेशिक मालिकों द्वारा तैयार की गई योजनाओं में अनोखी समानता थी।

कोई ताज्जुब नहीं कि बॉम्बे प्लेन और इन दो योजनाओं के बीच एक वंशानुगत साम्य है। जैसा कि तत्कालीन केन्द्रीय सरकार के योजना और विकास विभाग जिसने *औद्योगिक नीति वक्तव्य* जारी किया था, के एक सदस्य और इसके खासकर्त्ता–धर्त्ता सर अर्देशिर दलाल, जो कि बॉम्बे प्लेन के लेखकों में से एक थे, ने जोर डालकर कहा– *"सरकारी योजना और बॉम्बे प्लेन के उद्देश्य एक ही हैं।"* उनका इशारा था कि बॉम्बे प्लेन के कलमकार "विस्तृत ब्लूप्रिंट प्रस्तुत नहीं करते हैं, जबकि "सरकार जिस योजना पर विचार कर रही है उसे इस पर अधिक विस्तार से विचार करना चाहिये।[13]"

हैन्सन के हवाले से, "लक्ष्य वक्तव्य· *(औद्योगिक वक्तव्य, ऐप्रिल 1945)* और 1948 तथा 1956 के औद्योगिक नीति प्रस्तावों के बीच फर्क करने लायक वाकई बहुत कम चीजें है, और यह कहना ही ठीक होगा कि स्वतंत्र भारत सरकार के औद्योगिक विकास संबंधी नीतियों के वास्तविक व्यवहार को शायद इसी चीज ने संचालित किया हो।[14]

माइकल किद्रौं ने भी लक्षित किया : आजादी के बाद जो बहुतेरे कदम उठाये गये थे उनका पूर्ण प्रतिबिम्ब इस कालान्तराल में पहले से ही मौजूद था।"[15]

और इसमें भी कोई ताज्जुब नहीं कि ये सारी योजनाए समाज के पुनर्गठन–गांवों में सामंतीसंबंधों के खात्मे और मौजूद साम्राज्यशाही पूँजी के जाब्ते के बारे में–बड़ी चालाकी से चुप थी, हालाँकि उनमें से कुछ लोग ग्राम सहकारी समितियों और पंचायतों के मार्फत ग्राम विकास में आम भागीदारी की जरूरत के बारे में जोर दे रहे थे। बोम्बे प्लेन की दो खासियतें थीं : एक तो यही कि भारत बरसों तक पूँजीगत मालों और टेक्नोलॉजी और इसके वित्तीय–पोषण के लिये चाही गयी ऋण पूँजी के लिये साम्राज्यवादी देशों पर निर्भर रहेगा *(औद्योगिक नीति वक्तव्य)* इस मुद्दे पर इतना स्पष्ट नहीं था : इसने तो शालीनता पूर्वक बस इतना ही कहा कि सरकार का सुझाव है कि वह "उद्योगपतियों द्वारा चाहे गये पूँजीगत मालों की खरीददारी" के लिये "यू. के. और यू. एस. ए. में एक संस्था स्थापित करेगी।") और दूसरी, यह विशाल वित्तीय घाटे–10,000 करोड़ रूपये के सकल योजना खर्चे में से 3,400 करोड़ रूपये (1931–39 की औसत कीमतों के आधार पर) – इसके साथ ही भारत

के पक्ष में स्टर्लिंग बेलेंस, जो कि उस समय 1,000 करोड़ था, और जिसे द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान भूखमरी और मौत के शिकार बने लाखों भारतीयों ने जुटाया था, के ऊपर निर्भर थी। घाटे की वित्त व्यवस्था से कोई अवाम की भलाई का इरादा नहीं था बल्कि इससे अवाम की कीमत पर दलाल सरमायेदारों और साम्राज्यशाही के गठजोड़ को मजबूत करना था। यह योजना संसाधनों के लिये बढ़े हुए करों पर भी निर्भर थी–स्पष्ट रूप से इनडिरेक्ट टैक्सों पर, जिनकी गाज फिर से जनता पर ही गिरनी थी।

एच. वी. आर. आयंगर (जो कि 1944–46 तक भारत सरकार के योजना एवम् विकास विभाग के सहसचिव, 1946 में नेहरू के मुख्य निजी सचिव और इसके बाद रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के गवर्नर रह चुके थे) ने साठ के दशक के आखिरी दिनों में जो कुछ कहा था वह सच ही था कि बॉम्बे प्लेन भारत की पंचवर्षीय योजनाओं का मॉडल बन गया था। आयंगर की टिप्पणी थी कि :

"बॉम्बे प्लेन में यह सब कुछ है–अर्थव्यवस्था में भारी पैमाने पर हुकूमत की दखलंदाजी, नीति और सार्वजनिक ढ़ंग का एक मिश्रित औद्योगिक क्षेत्र, भारी उद्योगों पर जोर, विदेशी पूँजी की जरूरत और घाटे की वित्त व्यवस्था की आवश्यकता असल में, बोम्बेप्लेन और भारत सरकार के प्लैनिंग कमिशन के मूलभूत दृष्टिकोण में बहुत ही थोड़ा फर्क महसूस होता है। और अगर हम यह कहें कि प्लैनिंग कमिशन ने असल में बोम्बे प्लेन से ही प्रेरणा हासिल की थी तो यह कोई बहुत दूर की कौड़ी लाने जैसी बात नहीं होगी।"

⌘⌘

गया। अगर हम चाहें तो इसके सुबूत के तौर पर यहाँ वर्ल्ड बैंक की एक रिपोर्ट का हवाला दे सकते हैं जिसके मुताबिक :

"यों तो चीन का कृषि–क्षेत्र दुनिया की सिंचित–भूमि का सिर्फ आठ फीसद हिस्सा ही है मगर यह दुनिया की 22 फीसद आबादी (तत्कालीन चीन की आबादी का विश्व की आबादी में प्रतिशत भाग–अनु.) के लिये काफी खाद्यान्न मुहैया करा देता है।"

इसी रिपोर्ट में उल्लेख है :

"मोटे तौर पर, असाधारण निवेशदर की वजह से औद्योगीकरण बहुत तेजी से हुआ है और फिर *यह सारा का सारा निवेश भी घरेलू बचत द्वारा ही वित्त–पोषित हुआ है।* 1957–79 के दौरान इण्डस्ट्री माइनिंग और ऊर्जा उद्योगों को जोड़ते हुए इसका सकल उत्पाद वास्तविक आँकड़ों में करीब 10 फीसद सालाना की दर से बढ़ा.....।"

इसी में आगे लिखा है :

"सन् 1952–77 के दौरान, भारी उद्योगों पर भारी झुकाव के बावजूद भी, निर्मित उपभोक्ता मालों की प्रतिव्यक्ति उपलब्धता का फैलाव सात फीसद सालाना की दर से हुआ।"

इसमें यह भी कहा गया है कि :

"नयी तकनालोजिकल कुव्वतें हासिल करने की कोशिशों पर खासा जोर दिया गया। मोडर्न इण्डस्ट्रीज की लगभग सारी की सारी ब्रांचें स्थापित की गयी हैं; इनमें भी उन पर ज्यादा जोर डाला गया है जो भारी–पूंजीगत साजोसामान मैन्यूफैक्चर करती हैं। अमली तौर पर मुल्क के हरेक हिस्सों में बड़े और विशिष्ठ महत्व के कारखाने स्थापित किए गए और मैन्युफैक्चरिंग को पिछड़े और देहाती इलाकों में फैलाने की खासी कोशिशें की गयी।"

कुछ घटनाओं की प्रस्तुति से साबित किया गया कि : *"इस सबके बावजूद भी, तकनालोजिकल तरक्की के कुछ इलाकों में तो चीन ने वाकई अपना दबदबा कायम कर लिया है।"*

इस रिपोर्ट का नजरिया है : ".....आमदनी के आंकड़े, मुमकिन हो कि गरीबी की अधूरी और गलत तस्वीर पेश करते हों। इसलिये ज्यादा संगत है वास्तविक खपत का वितरण, खासकर मूलभूत जरूरतों या आवश्यक सामानों यानि खाना, कपड़ा, रिहाईश, इलाज की सुविधाऐं और शिक्षा की उपलब्धता।"

रिपोर्ट में लिखा है – "सबसे गरीब" चीनी के पास– "सबके पास रोजगार है, उन्हें खाना मुहैया कराने की गारंटी मिलाजुला कर सरकारी राशन और हरेक के

साम्राज्यवादियों की घुसपैठ और उनके दबदबे के लिये दरवाजे खोल देना। लेकिन यह नीति विदेशियों से सीखने की विरोधी नहीं थी, जैसा कि खुद माओ के लफ्ज थे कि इसकी एक शर्त है, "अपनी आजादी को बरकरार रखते हुए, पहलकदमी को खुद अपने ही हाथों में रखते हुए और खुद अपनी ही कोशिशों पर भरोसा करते हुए।" यानी बहुत शुरूआती दौर से ही माओवादी रणनीति ने खुद–मुख्तारी की पॉलिसी पर अमल करने के लिये जोर दिया।

इस माओवादी मोडल ने न सिर्फ उत्पादक शक्तियों के स्वतन्त्र आत्म निर्भर विकास के लक्ष्य को सामने रखा बल्कि आदमी को ही केंद्र में रखकर दुनिया को बदलना चाहा और अपने आप में डूबे आदमी में भी बदलाव चाहा जो खुदगर्जी से ऊपर उठते हुए समाज की सेवा को तरजीह दे। इसने फैसलों में आम–भागीदारी और योजनाओं को पक्की तौर पर अमली जामा पहनाने के लिए आम जनता के जोश को जगा दिया।

खासकर छठे दशक के चीन में, जहाँ मशीनरी जरूरत से बहुत ही कम थी, लाखों–लाख मर्द औरतों की नींद से जागी मेहनत की ताकत ने ऐसे–ऐसे हैरतनाक तामीरी कारनामे किए कि जैसे कोई चमत्कार हो! इसने भयानक उफनती नदियों को काबू में कर लिया और कई लंबे–चौड़े इलाकों में तो जैसे नहरों का जाल ही बिछा डाला।

सिर्फ छठे दशक में जाकर ही चीन ने कहीं थोड़ा सा सोवियत लोन लेना स्वीकार किया (जो भारत के बाहरी कर्जे के मुकाबले तो कुछ भी नहीं था) तिस पर भी सोवियत संशोधनवादियों ने 1960 में सोवियत मदद के जेरे तहत चलते तामीरी प्रॉजिक्टों के ब्लू–प्रिंटों और एक्सपर्टों को वापस बुलवा लिया, जिसकी वजह से उसे बड़े नुकसान देह असरों को बर्दाश्त करना पड़ा। लेकिन इसके बावजूद भी 1965 की शुरूआत तक सारे सोवियत कर्जों को उतार फेंका गया। और 1968 तक चीन सारे के सारे अंदरूनी कर्जों से भी फारिग हो गया। चीन में मँहगाई–मुद्रा स्फीति तो मानो एक अनजानी सी चीज थी। कीमतें न सिर्फ स्थिर थी बल्कि उन्हें कभी–कभार तो नीचे भी खिसकाया जाता था।

इस माओवादी रणनीति ने एक छोटे से अर्से में ही एक कमजोर, पिछड़े, भूख से कुलबुलाते, अंदरूनी जंग से तबाह, मुद्रा स्फीति और दुनिया भर की नफरत का निशाना बने मुल्क से एक मजबूत, आत्मनिर्भर और एक सार्वभौमिक–संप्रभु राज्य में तब्दील कर दिया जो दुनिया भर के तरक्की पसन्द लोगों की उम्मीद और प्रेरणा बन गया तो इसके साथ–साथ हीं यह तमाम साम्राज्यवादियों और प्रतिक्रियावादियों के लिये एक खौफ भी बन

II- योजनाओं के दो प्रकार

विकास की रणनीति और इसे कामयाबी से पूरा करने के कदमों का खुलासा करने वाली कोई भी योजना कुछ यूँ भी डिजाईन की जा सकती है कि वो सिर्फ शोषक वर्गों का ही हित साधे या फिर कुछ यूँ कि इससे मुल्क की सारी अवाम की माली, समाजी, सियासी और सांस्कृतिक यानी चौफेर तरक्की हो सके। और फिर कोई भी योजना कुदरतन तो होती नहीं है : इस पर तो बस किसी भी एक वर्ग की छाप पूरी तरह से ठोक–ठोक कर लगी होती है।

इस बारे में एंगेल्स का कहना था :

शायद डार्विन को ये खबर नहीं थी कि उन्होंने मानव जाति पर कितना करारा व्यंग्य किया है और खासकर अपने हम वतनों पर, जब उन्होंने यह दिखलाया कि मुक्त–प्रतिस्पर्धा, अस्तित्व का संघर्ष जिसे अर्थशास्त्री एक ऐतिहासिक उपलब्धि बताते हुए इसके गीत गाते हैं–असल में तो सिर्फ जानवरों की दुनिया की ही सहज स्थिति है। और सिर्फ सामाजिक पैदावार का एक जागरूक ढाँचा ही आदमजात को समाजी–लिहाज से बाकी बची हुई जानवरों की दुनिया से ऊँचा उठा सकता है, ठीक उसी तर्ज में जिसमें उत्पादन ने अपने खास जैव–वैज्ञानिक ढंग से सारी मानव जाति के लिये किया है। ऐतिहासिक विकास, ऐसे ढांचे को रोज–बरोज इंतहाई जरूरी भी बनाता जा रहा है और इसी के संग–संग इसे हरेक दिन मुमकिन भी बनाता जा रहा है। इसी से एक नये ऐतिहासिक युग की बेला फूटेगी। जिसमें आदमजात और इसकी तमाम हलचलें–खासकर प्राकृतिक विज्ञानों के हलकों में तो इतनी तरक्की होगी कि वह इन हलकों में हुई तमाम पिछली तरक्की को फीका साबित कर देगी।"[1]

ऐंगेल्स के यह लिख चुकने से लेकर आज तक भारी वैज्ञानिक और तकनीकी क्रांतियाँ संपन्न हो चुकी हैं। इन भारी वैज्ञानिक और तकनीकी उपलब्धियों ने इंसान को यकीन दिला दिया है कि वो चाहे तो खुद अपनी तकदीर को लिख सकता है, कि उसकी जिंदगी से गरीबी और तंगहाली को दूर किया जा सकता है, कि समाज का आर्थिक, नैतिक और सांस्कृतिक पुनरूत्थान संभव है अगर 'सामाजिक–पैदावार का एक चेतनापूर्ण ढांचा हो

जिसमें पैदावार और उसका बंटवारा एक योजनाबद्ध ढंग से किया जाता हो, बशर्ते अगर आज की गैर समझदारीभरी आर्थिक और राजनैतिक पद्धति–जो वृहद् मानवीय संसाधनों के साथ ही साथ साईंस और टेकनोलोजी के उपहारों को भी नेस्तनाबूद करने पर तुली है, – की जगह अगर एक ज्यादा अक्लमंदी भरी पद्धति हो। एक ऐसी पद्धति जो वास्तविक और राजनैतिक जनवाद पर टिकी हो, जो अवाम के मुफाद को निजी भूख से ऊपर रखे और जो संस्कृति को खूब फलने–फूलने के लिये जमीन भी मुहैया कराये।

किसी भी पूर्व उपनिवेश या अर्ध–उपनिवेश के सामने विकास की दो रणनीतियों के बीच चुनाव का मौका होता है। पहली रणनीति तो वो होती है जो सामाजिक ढांचे को बरकरार रखते हुए साम्राज्यवादी पूँजी पर न सिर्फ निर्भरता को बनाये रखती है बल्कि इसकी इस भूख को और अधिक बढ़ाती है– और साम्राज्यवादी और अर्ध–साम्राज्यवादी परिपाटी तथा देशी सामाजिक ढांचे में ऊपरी–सजावटी–रद्दोबदल कर इन्हें बरकरार रखते हुए संपदा और सत्ता बस कुछेक मुट्ठीभर लोगों के हाथों में सौंप देती है। दूसरी वो रणनीति होती है जिसमें औपनिवेशिक या अर्ध–औपनिवेशिक शासन व्यवस्था की विरासत को जड़ों से ही उखाड़ फेंका जाता है और मुल्क की चौफेर तरक्की की मंजिल को सामने ले आया जाता है।

शुरूआती पाँचवें और सातवें दशक के बीच गुजरे एक ही वक्त में, दो तरह की विकास रणनीतियाँ, दो तरह की योजनाऐं लागू की जा रही थी– एक तो चीन में और दूजी हिंदुस्तान में। माओत्से तुंग के दौर में "सामाजिक उत्पादन का एक चैतन्य ढांचा जिसमें पैदावार और बंटवारे का काम योजनाबद्ध ढंग से किया जाता है" को चीन की विशाल आबादी को युगों की गरीबी, पिछड़ेपन और पतन से निजात दिलाने की कोशिश में आजाद चीन में आजमाया गया। चीन ने ऐसी पाँच साला योजना को अपनाया और विकास की ऐसी रणनीति को साधा जिससे हर मेहनतकश की इज्जत, रोजी, रोटी, तालीम, तंदरूस्ती, जनवादी–हुकुक की हिफाजत हो और जिससे उसकी माली और तहजीबी तरक्की हो और जो उसकी खुद–मुख्तारी को तेजी से परवान दे।

पर, बिनु विनाशे सर्जन नाहीं ! इंकलाबी जीत के बाद जब चीन ने सियासी आजादी हासिल करली तो उसने उस आर्थिक और सामाजिक ढांचे को नेस्तनाबूद कर दिया जो उसके पिछड़ेपन और औंधी–तरक्की के लिये जिम्मेवार था। उस वक्त चीन में निवेशित पूँजी के नब्बे फीसद हिस्से–जो कि साम्राज्यवादी और दलाल पूँजी थी, का जाब्ता कर लिया गया और उसे सारे

अवाम की मिल्कियत में तब्दील कर दिया गया। और बाकी बची राष्ट्रीय–बुर्जुआ पूँजी के लिये धीरे–धीरे रोकथामों के साथ–साथ नियन्त्रण और आखिरी कदम के तौर पर राष्ट्रीयकरण की नीति को अपनाया गया। खुद काश्तकारों के मार्फत ही, नीचे से भूमि–सुधार करवाये गये। जमींदारों के कब्जों से और धनी किसानों के पास पड़ी फालतू जमीनों को भूमिहीनों और गरीब काश्तकारों में तकसीम कर दिया गया। जमींदारों को भी इन किसानों के बराबर ही एक हिस्सा मिला। भूमि–सुधारों के ये कदम ही कॉ–ऑपरैटिव्ज–संघों और फिर कम्यूनों के गठन की ओर ले गये। इस कृषि–क्रांति ने ही देश के विशाल औद्योगिक जीवन में एक नयी साँस फूँक दी। न सिर्फ शहरी इलाकों बल्कि देहाती इलाकों–प्रोविंसों में भी कम्यूनों की मिल्कियत वाली कई छोटी–बड़ी इण्डस्ट्रीज हर जगह उठ खड़ी हुई।

इस माओवादी रणनीति के तहत इंसान को ही सामने रखा गया न कि मुर्दाचीजों या फायदों को और विकास को जनआंदोलन के रूप में मानते हुए पूँजीगत–मालों और टेक्नोलोजी पर जोर डालने के बजाए आम–आदमी की खुद–ब–खुद हिस्सेदारी के महत्व पर जोर डाला गया, केंद्रीयकृत नौकरशाही को ठुकराते हुए हर स्तर पर लोगों की पहल कदमी, रचनाशीलता और उत्साह को बढावा देने वाली विकेंद्रीकरण की नीति पर जोर डाला गया; सिर्फ और सिर्फ पहली दफा ही यह माना गया कि खुद अवाम ही अपनी किस्मत को लिखने वाले होते हैं–न कि कुछेक योजनाकार या नेता; और फिर माली फायदों को नहीं बल्कि सियासत को ही इसकी कमान सौंपी गयी, यानि लोगों की सियासी और समाजी सोच को ऊँचा उठाते हुए, उन्हें खुदगर्जी से बरी करते हुए अपने–आप को सबकी खिदमत में पेश करने की भावना का निर्माण किया गया। इसका लक्ष्य था हरेक मर्द और औरत का चहुँमुखी–विकास–एक सक्रिय, राजनैतिक चैतन्य, वास्तविक समाजवादी स्त्रियों और पुरुषों का उठाव, तकनालाजी के लिहाज से माओवादी रणनीति ने आत्म–निर्भरता या फिर 'अपना हाथ जगन्नाथ' (DO IT YOURSELF) कार्यक्रम पर जोर दिया। माओत्से तुंग का यकीन था कि जमानों से चला आ रहा तकनालोजिकल पिछड़ापन सिर्फ तभी काबू में किया जा सकता है जब साईंसदान, मैनेजर और मजदूर खुद मिल बैठकर खयाल करें और सिद्धांत को अमल से जोड़ दें। माओ का मानना था कि तकनालोजी कुछेक के ही सरमायेदारी में ही नहीं रहनी चाहिये बल्कि इसका चौफेर फैलाव करते हुए इसे आम जनता की पूँजी बना देना चाहिये। इस माओवादी रणनीति ने तकनालोजी के लिये विदेशी बहुराष्ट्रीय निगमों या सोवियत ऐजन्सियों की ओर झुकने से भी इंकार किया क्योंकि ऐसा करने का मतलब होता

ने अपनी जरूरतों के ज्यादातर औजारों का निर्माण.....खुद ही किया है.....और ठीक इसी दर्मियान औद्योगिक अनुसंधान संस्थान और अधिक विकसित फैक्टरियाँ लगातार कोशिश जारी रखे हुए हैं नये उत्पादों और नयी तकनालोजियों पर महारत हासिल करने की और इसी का नतीजा हुआ है कि इंजिनियरी अनुभवों की एक नींव पड़ गई हैं और उस पर तकनीकी क्षमताओं का एक विशाल फलक तैयार हो गया है जो कि आमतौर पर एक विकासमान देश में कभी भी दिखाई नहीं देती हैं.....

"चीन में ऊर्जा का रिकॉर्ड उत्पादन, असल में चूँकि ज्यादातर गयी गुजरी और देशी तकनालोजी से हासिल किया गया है, इसलिये यह रिकॉर्ड बहुत ही असाधारण मालूम होता है.....और गौर करने वाली–बड़ी बात तो ये है कि तकनालोजिकल सीमाओं के और कुछ साफ नजर आने वाली प्रबंधकीय कमजोरियों के बावजूद भी चीन का इलैक्ट्रिक पावर सिस्टिम अंतरराष्ट्रीय मापदण्डों के लिहाज से भी काफी कुशल जान पड़ता है.....

"सकल उत्पादन के लिहाज से भी चीन की जगह दुनिया के खास औद्योगिक मुल्कों की कतार में आती है.....

"1979 में चीन में कुल 534 लाख लोगों को उद्योगों में रोजगार हासिल था और अगर ब्रिगेड इण्डस्ट्रीज को शामिल करें तो तकरीबन 630 लाख लोग..... हालाँकि इनमें ज्यादातर कामगार थोड़े वक्त के लिये ही उद्योगों में काम करते हैं..... लेकिन फिर भी अगर तुलना करें तो 1976 में पश्चिमी और दक्षिणी यूरोप, यू. एस. ए. और कनाड़ा के तमाम उद्योगों में लगे कुल तमाम कामगारों की तादाद तकरीबन 600 लाख ही बैठती थी.....जबकि भारत में ऐसे औद्योगिक संस्थान जिनमें 20 या इससे ज्यादा कामगार था एक पावर सोर्स के साथ 10 कामगार हों, यह नियोजन फिर भी 70 लाख से ज्यादा नहीं था.....

"1950 और 1960 के दशकों में तेजी से विकसित हुई औद्योगिक क्षमताओं की वजह से चीन द्वारा मशीनरी और दूसरी मैन्युफेक्चर्ड मालों को बनाने की क्षमता में भी खासी बढ़ोतरी हो गयी।"

खुद अपने पर ही भरोसा करते हुए, चीन–पेट्रोकेमिकल कोम्पलेक्सेज़ ऑईल रिफाइनरिज, फर्टिलाईजर प्लान्टज़ आदि की स्थापना कर सका और इसके साथ ही समन्दरी सफर लायक जहाजों का निर्माण और अंतरिक्ष यानों का प्रक्षेपण कर सका जबकि भारत आज भी बगैर विदेशी पूँजी और पूँजी–मालों के यह काम कर सकने में सक्षम नहीं है।

विश्व बैंक के इस अध्ययन का ये भी कहना है कि सातवें दशक में, "चीन एक पैट्रोलियम आयातक देश से विशुद्ध पैट्रोलियम निर्यातक देश बन गया..... 1960 की शुरूआत से ही कामयाब भूगर्भिक खोजों और तेल की

1900–1 और 1946–47 के दर्मियान यानि सीधे उपनिवेशी–राज के दौर में, भारत में मैन्युफैक्चरिंग इण्डस्ट्रीज के उत्पादन में ध्यान देने योग्य खासी बढोतरी हुई थी।

एस. सीबासुब्रमोनियम को उद्धरित करते हैं तो :

"सन् 1900-01 से लेकर 1904-05 तक और 1942-43 से लेकर 1946-47 तक द्वितीयक क्षेत्र (Secondary Sector) का सकल उत्पाद 2.2 गुना बढ़ा और मेनुफेक्चरिंग इण्डस्ट्रीज का उत्पाद 5.5 गुना बढ़ा। स्माल स्केल और कॉटिज इण्डस्ट्रीज का 1.1 गुना और उत्खनन में 1900-01 के शुरूआती स्तर से 1904-05 तक उत्पादन 2.4 गुना तक हो गया।[9] "

प्लैनिंग–कसरतों के चार से ज्यादा दशकों के बीतने के दौरान, बेशक, भारत में उद्योगों का प्रसार हुआ है, उनमें विभिन्नता भी पनपी है और उसका कृषि–उत्पादन भी बढ़ा है। इस लिहाज से हमारे दिलो–दिमाग में यह बात बिल्कुल साफ हो जानी चाहिये कि इस प्रगति और विविधिकरण में–विदेशी पूँजी के सहयोग, विदेशी पूँजीनिवेशन के साथ ऋण–पूँजी और विदेशी तकनालोजी–का भी बड़ा हाथ रहा है और कि भारतीय अर्थव्यवस्था पर विदेशी पूँजी की जकड़न बजाए कम होने के और भी मजबूत हो रही है।

पॉल बाराँ लिखते हैं, "जैसा कि शब्द "अधोविकसित" से संकेत मिलता है, अधोविकसित देशों का उत्पादन न्यून रहा है और उनके मानवीय और भौतिक संसाधनों का दोहन बहुत ही कम हुआ है या फिर लगभग सारे ही अनछुए रह गये हैं। इन देशों की पूँजीवादी पद्धति ने बजाए आर्थिक विस्तार, तकनीकी प्रगति और सामाजिक परिवर्तन की चालक शक्ति बनने के सिर्फ आर्थिक ठहराव, गयी–गुजरी टेक्नोलोजी और सामाजिक पिछड़ेपन को ही स्थापित किया है।"[10]

और यह सब कुछ हिंदुस्तान के लिये भी सच है। उसके विशाल मानवीय और भौतिक संसाधनों का बहुत ही कम दोहन किया गया है, बल्कि काम में ही नहीं लिया गया है और इस तरह व्यर्थ कर दिया गया है। वास्तविक–उत्पादन, संभावित–उत्पादन से बहुत कम होता है। इस संदर्भ में अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की हाल ही की विश्व रोजगार पर एक रिपोर्ट में यह अनुमान किया गया है कि भारत के पुरूष श्रमिकों का 22 फीसदी हिस्सा या तो बेरोजगार है या फिर आंशिक रोजगार प्राप्त है और यह आंकड़ा बढ़ता ही जा रहा है।"[11] अगर बेरोजगार और आंशिक रोजगार प्राप्त महिला श्रमिकों, जो कि आनुपातिक रूप से पुरुष श्रमिकों से कहीं ज्यादा संख्या में होती हैं– को भी इस आँकड़े में जोड़ लें तो कोई भी बड़ी आसानी से यह

अनुमान लगा सकता है कि भारत में मानव संसाधनों की कितनी बहुमूल्य और भारी मात्रा बर्बाद हो रही है। इस सूरतेहाल में भौतिक संसाधनों की भी बड़ी भारी मात्रा अनछूई और व्यर्थ पड़ी है। मिसाल के तौर पर भारत का बेहतरीन लौह–खनिज कूड़े के दामों पर साम्राज्यवादी देशों को निर्यात कर दिया जाता है। भारत सिर्फ इसलिये ही अधो विकसित नहीं है कि उसका वास्तविक विकास उसकी संभावित क्षमता से पीछे है बल्कि इसलिये भी कि उसके सियासी और समाजी ढांचे ने और उसकी अर्थ–व्यवस्था पर साम्राज्यवादी पूँजी की गिरोहबंदी ने खुद उसी के द्वारा अपनी संभावनाओं को फलीभूत करने की उसकी क्षमता को भारी नुकसान पहुँचाया है। यहाँ यह कहना तो शायद बहुत फिजूल ही होगा कि भारत का ज्यादातर इकनोमिक सरप्लस विदेशों को पलायन कर जाता है।

पीछे गुजरे तमाम सालों में, विकसित पूँजिवादी देशों के मुकाबले ही नहीं बल्कि सारी तीसरी दुनिया के मुकाबले भी *भारत की तरक्की का रूख पैंदे की ओर ही रहा है।* भारत, जिसकी आबादी, दुनिया की आबादी का करीब छठा भाग है, विश्व के सकल घरेलू उत्पाद (जी. डी. पी.) में, उसका अंश, सन् 1950 के 2 फ़िसदी से 1980 में 1.4 फिसदी पर आ लुढ़का। जैसा कि सुरेन्द्र जे. पटेल लिखते हैं, "तीसरी दुनिया के सकल घरेलू उत्पाद से तुलना करने पर यह घटत और भी ज्यादा बैठती है–1950 के 10 फीसदी से फिसल कर यह इन सालों में 5.4 फीसदी पर आ ठहरी है।" जबकि विश्व–कृषि–उत्पादों में भारत का हिस्सा सन् 1900 में 10 फीसदी से घटकर 1980 में 9 फीसदी रह गया है और इसी दर्मियान तीसरी दुनिया के कृषि–उत्पाद के मुकाबले 25 फीसद से घटकर 17 फीसदी ही रह गया है। विश्व के औद्योगिक उत्पादों में भारत का हिस्सा सन् 1950 में 1.2 फीसद से घटकर सन् 1980 में 0.5 फीसदी से भी कम हो गया और तीसरी दुनिया के औद्योगिक उत्पादों का हिस्सा सन् 1950 के 12 फीसदी से खिसककर 1980 में सिर्फ तीन फीसदी रह गया है।[12]

संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम की *मानव विकास रिपोर्ट*–1994 (Life Expectancy Report, 1994) जो कि दुनिया के 173 देशों द्वारा तीन आधार मानकों–यथा जीवन–प्रत्याशा, शिक्षा और प्रति व्यक्ति आय–में उपलब्धियों के आंकड़ों को वर्गीकृत (घटते क्रम में–अनु.) करती है, उसमें भारत को 135 वाँ स्थान मिला है, यानि पाकिस्तान और वियतनाम से भी नीचे !"(13) मानव विकास रिपोर्ट–1993 के हिसाब से तो भारत का स्थान 146 वाँ है, प्रति व्यक्ति आय के आधार–भूत मानक के लिहाज से।[14]

नामक भाग में विकास की माओवादी रणनीति की हम संक्षेप में चर्चा कर चुके हैं।

विश्व बैंक के एक त्रि–खण्डीय अध्ययन में, जिस पर माओ के दौर के चीन के लिये किसी भी तरह का पक्षपातपूर्ण रवैया रखने की तोहमत नहीं लगायी जा सकती है, जिस अध्ययन का संदर्भ हम पीछे भी प्रकट कर चुके हैं इस पुस्तक में इसी पर एक टिप्पणी है :

"कृषि विकास में साईंस और तकनालोजी का योगदान खासा गौर करने वाला है। खास तौर से–चावल, गेहूँ, और मोटे अनाज के मुख्य भोजन के मामलों में चावल के लिये तो खासतौर पर ही। *चीन ने बहुत सारी जैव–वैज्ञानिक खोजों के लिये राहें तैयार की : 1959 में चावल की पहली अर्ध–बौनी–परिष्कृत नस्ल को जारी किया गया, यानि अंतरराष्ट्रीय चावल अनुसंधान संस्था द्वारा ठीक इसी किस्म की आई. आर. 8 किस्म को हासिल करने से 7 साल पहले ही, 1970 में चावल की एक संकर नस्ल विकसित और प्रचलित करने वाला पहला देश भी चीन था,* इसने तेजी से ऐसी तकनीकों का विकास किया है जिससे नयी पौध सामग्रियों की उप–जातीय विशेषताओं को स्थिरीकृत किया जा सकता है जिनका आज अन्य देशों में खूब अध्ययन किया जा रहा है। *गेहूँ के क्षेत्र में भी उन्नत कार्य किया गया। (उसे शीत सह, कीटों के संक्रमण को सहने वाला और शीघ्र पकने और आकृति को बौना करने आदि की विशेषताऐं पैदा करने के काम...) और आज मोटे अनाज को बोये जाने वाले क्षेत्र के 70 फीसद हिस्से में इसी नस्ल को बोया जा रहा है।"*

यहाँ पर हम विश्व–बैंक रिपोर्ट के कुछ और अंशों का भी उल्लेख कर सकते हैं :

"नयी तकनोलोजिकल काबिलियतें हासिल करने के लिये खासी जोर आजमाईशें और मशक्कतें की गईं। आधुनिक उद्योगों की लगभग सारी श्रेणियाँ तामीर कर ली गईं हैं और जोर उस पर डाला गया है जो कि कैपिटल–इक्विपमेंट्स का निर्माण करती हैं। इस तरह से चीन विकासशील देशों के मुकाबले कहीं ज्यादा किस्मों के औद्योगिक मालों का उत्पादन करता है और कि यह आयातित इक्विपमेंट्स पर बहुत कम निर्भर है..... चीन को जब बिल्कुल ही अलग–थलग डाल दिया गया, उस दौर में भी, संख्यात्मक बढ़त को बरकरार रखने के लिये, मौलिकता और व्यावहारिकता के सुमेल से इन दिक्कतों से पार पाया गया–मसलन, छोटे उद्यमों और गये गुजरे तरीकों का इस्तेमाल करते हुए यानि उस वक्त जबकि बड़े कारखानों की तामीरें मुश्किल थी या फिर उन तरीकों में महारत हासिल करना बहुत ही मुश्किल था....."पिछले 20 सालों में (साठ और सत्तर के दशक में) चीन

कंपनी राज के दौर में भारत में पश्चिमी तकनोलाजी के धीमे–धीमे प्रवेश की वजह से यह देश पश्चिमी तकनोलोजी की मण्डी ही बन गया और खुद भारत की देशी तकनालोजीयाँ सिरे से ही गायब हो गयीं–बावजूद इसके कि पश्चिमी तकनोलोजीयाँ कोई ज्यादा सोफिस्टीकैटिड नहीं थी। हालाँकि थोड़े से विदेशी अन्तः क्षेत्र के रूप में आधुनिक उद्योगों का उभार जरूर हुआ था मगर वहीं इसने भारत के देशी उद्योगों का सर्वनाश भी कर दिया और औद्योगिक श्रमिकों की भारी तादाद सिर्फ खेती पर ही निर्भर हो गई। जनता के विशाल हिस्सों में बेरोजगारी और अर्ध–बेरोजगारी की समस्याएँ तेज हो गई। जहाँ आधुनिक प्रौद्योगिकी ने पश्चिमी पूँजीवादी देशों में आर्थिक वृद्धि और विकास को पनपाया वहीं इसके उलट औपनिवेशिक और अर्ध–औपनिवेशिक दुनिया में इसके आयातों से प्रगति में बाधा पड़ी और नतीजतन इन मुल्कों की तरक्की औंधा गई। पश्चिमी तकनालोजी ने आज जब एडवांस्ड कम्प्युटर्ज, रोबोट्ज, स्पेस सैटेलाइट्ज, सैल्युलर फोन्ज के युग में कदम बढ़ा दिये हैं तब ऐसे वक्त में इनके आयातों से भारत जैसे मुल्क की अर्थव्यवस्था और उसकी जिंदगी पर तो कयामत बरपाने वाले असर होते हैं, इनके बेलगाम आयातों से एक ओर तो भारतीय दलाल वर्गों और उनके ताबेदारों के मुफाद पूरे होते हैं लेकिन वहीं दूसरी ओर यह हिंदुस्तान की तकनालोजी के मामलों में आजादी की हरेक संभावना का ही गला घोंट देती है और बेकारी और अधो –रोजगार की तकलीफों को और भी तीखा कर देती है। जहाँ यह चंद लोगों के लिये रोजगार पैदा करती है वहीं यह करोड़ों लोगों के मौजूदा रोजगार को भी छीन लेती है। इस तरह से करोड़ों लोगों की जिंदगी ही दाँव पर लग चुकी है। लेकिन शासक वर्गों के सियासतदाँ और उन्हीं के वफादार अकादेमिशिन इन सारी परेशानियों को–दिक्कतों को बढ़ती हुई आबादी के मत्थे मढ़कर जनता को गुमराह करना चाहते हैं और फिर इनके हल के लिये माल्थसवादी हल सुझाते हैं।

विदेशी पूँजी और तकनालोजी के लिये भारतीय योजनाकारों और नीति–निर्धारकों की अनबुझ प्यास ने भारत को एक ऐसे मुकाम पर ला पटका है जहाँ आवाम की भारी तादाद तो जैसे सिर्फ एक फालतू कबाड़ है। पर, क्या तीसरी दुनिया के अवाम की ये बदकिस्मती लाजीमी है ? नहीं, यह लाजीमी नहीं है और यह बात साबित हुई माओत्से तुंग के दौर में आजाद हुए चीन में, जहाँ आम जनता ने खुद आगे बढ़कर राजसत्ता को संभाल लिया। फिर इसी राजसत्ता ने एक बिल्कुल ही अलग किस्म की नीति को अपनाया, और 'डू इट–युअरसेल्फ' प्रोग्रेम (अपनी जरूरतें आप पूरी करो) को अपनाया और हैरतअंगेज कामयाबियाँ हासिल की : "योजनाओं के दो प्रकार'

पैंतालीस सालों से भी ज्यादा सालों से ज़ारी 'विकास' योजनाओं के बावजूद, भारत का "विकास" अब भी "अधोमुखी दिशा" में ही जारी है। सालहा–साल विकसित पूँजीवादी देशों और भारत के बीच खाई लगातार चौड़ी होती जा रही है। जहाँ 1950 में उच्च आयवर्ग वाले देशों में प्रति व्यक्ति आय 915 डॉलर थी वहीं निम्न आय वर्ग वाले देशों में यह केवल 54 डॉलर थी।[15]

अब आइये औद्योगिक विकास के लक्षणों पर। – *विश्व–प्रगति रिपोर्ट–1997* के अनुसार, 133 देशों की एक सूची में भारत का स्थान "पैंदे" से 27 वाँ था, 1995 में इसकी प्रति व्यक्ति औसत आय 340 डॉलर थी जबकि अल्प आय वर्ग के (भारत समेत) 49 देशों की प्रति व्यक्ति औसत आय 765 डॉलर थी लेकिन इसी समय यू. एस. ए. और स्विटजरलैण्ड की प्रति व्यक्ति औसत आय क्रमशः 26,980 तथा 40,630 डॉलर थी।15-a किसी भी विकसित देश में, उद्योगों में लगे श्रमिकों की संख्या, खेती में लगे श्रम–बल की संख्या से हमेशा ही बहुत ज्यादा होती है। जबकि यहाँ भारत में ठीक इसका उलटा हो रहा है : खेती में लगे श्रम–बल की तादाद, उद्योगों में लगे श्रम–बल से ज्यादा है। फिर परंपरागत तथा गैर मशीनीकृत उद्योगों में लगे श्रमिकों की तादाद करीब–करीब उतनी ही है जितनी कि आधुनिक उद्योगों की तीनों श्रेणियों–लघु–मध्यम तथा बड़े उद्योगों में लगे श्रमिकों की है। (यानि सामंती–उद्योगों में लगे श्रमिकों की तादाद बराबर है आधुनिक पूँजीवादी उद्योगों में लगे श्रमिकों के, जो कि नहीं होनी चाहिये थी यदि यह एक पूर्ण "विकसित" राष्ट्र–राज्य होता–अनु:) आनुपातिक रूप से सिर्फ खेती पर ही निर्भर भीड़ का बढ़ता उत्तरोत्तर दबाव, कृषि में पूर्व–पूँजीवादी–संबंधों की मौजूदगी, बंधुआ श्रम के साथ ही साथ आधुनिक उद्योगों की बगल में खड़े एक विशाल पूर्व–पूँजीवादी क्षेत्र की मौजूदगी का होना, यही सब भारत के अधोविकसित होने के स्पष्ट लक्षण हैं, पक्के सुबूत है।।

जैसा कि आगे और साफ होगा, "विकास" योजनाओं ने भारत की विदेशों पर निर्भरता को और अधिक बढ़ाया है। विकसित देशों के बीच अन्तर्निर्भरता का प्रकार होता है समकक्षों के बीच की अर्न्तनिर्भरता हालांकि इनमें से कोई एक कुछ ज्यादा समान हो सकता है दूसरों की तुलना में। यों विकसित पूँजीवादी देश खपत के लिहाज से आत्म–पूर्ति–कर्त्ता (सेल्फ–संफीशट) तो नहीं हैं मगर आत्म–निर्भर (सेल्फ–रिलाईंट) जरूर हैं। दूसरी तरफ, भारत जैसे अधोविकसित देश, आत्मनिर्भरता से कोसों दूर हैं। बकौल एक लातिन अमरीकी अर्थशास्त्री, "अधोविकसित देशों के मामले में; इनकी राष्ट्रीय

अर्थव्यवस्थाओं की विकसित देशों के साथ अन्तर–निर्भरता ही निर्भरता बन जाती है, क्योंकि ये देश दुनिया के बाजारों, नवीनतम तकनीकों और उत्पादन के साधनों को नियन्त्रित करने वाली ताकतों के अधीन होते हैं।"[16] "लेकिन यह विदेशी अधीनता सिर्फ तभी कायम होती है जब इसे उन देशी गिरोहों की तरफदारी हासिल होती है जो कि इसकी जूठन पर फलते–फूलते हैं।

..... उन्होंने आगे कहा :

"परनिर्भरता की अवधारणा को एकाधिपत्य के केंद्रों पर निर्भर समाजों के स्वार्थी ताक़तवर तबकों के गठजोड़ की ओर इशारा किये बगैर नहीं समझा जा सकता है लेकिन विशुद्ध अर्थों में, "विदेशी–आधिपत्य" सिद्धांत रूप में अव्यावहारिक हैं। और व्यवहार में यह आधिपत्य सिर्फ तभी संभव है जब इसे उन समूहों का समर्थन हासिल हो जो कि इससे लाभान्वित होते हैं।"[17]

यह सिर्फ विभिन्न अंतरराष्ट्रीय और राष्ट्रीय (सिर्फ भौगोलिक दृष्टिकोण से राष्ट्रीय) स्वार्थों का टकराव ही है जो कि निर्भरता की स्थितियों का निर्माण करता है, वरना इनके स्वयम् के भीतरी अंतर्विरोध तो द्वितीयक ही होते हैं।

आज विश्व अर्थव्यवस्था का एक विशेष लक्षण है विशाल पैमाने पर पूँजी का अंतरराष्ट्रीयकरण यानि पूँजी का वैश्वीकरण। हरेक ट्रांसनैशनल कॉर्पोरैशन एक से ज्यादा देशों में काम करता है और मेजबान देश की पूँजी के साथ गठजोड़ कायम करता हैं लेकिन इस टी. एन. सी. का हमेशा ही एक राष्ट्रीय केन्द्र होता है जहाँ से इसे नियन्त्रित किया जाता है। और नियमतः ये राष्ट्रीय केंद्र विकसित पूँजीवादी देशों में ही होते हैं, जिनके बारे में हम पहले ही कह चुके हैं कि ये स्वतंत्र और आत्मनिर्भर होते हैं। लेकिन विकसित पूँजीवादी देशों और भारत जैसे देशों के बीच का संबंध बिल्कुल ही अलग तरह का होता है। बराबरी के सुलूक से कोसों दूर, भारतीय बड़ी पूँजी तो इनके लिए सिर्फ एक छुटभय्ये "भड़वे" के रूप में ही चाकरी करती है।

कोलम्बिया विश्वविद्यालय द्वारा *संयुक्त अंतर्राष्ट्रीय व्यापार उपक्रम* विषय पर कराये गये एक अध्ययन के अनुसार, "उन्नत तकनीकी ज्ञान एवम् सतत् अन्वेषण इन (विदेशी) निवेशकों को एक भरपूर मौका देते हैं इन संयुक्त उपक्रमों को अपने नियन्त्रण में लेने का, चाहे इसके मालिकाने या कानूनी नियन्त्रण में उनका बहुमत हो या न हो।" और, "स्थानीय विरोधों से बचने के लिये, निवेशक कंपनी के नियन्त्रण को बड़ी चालाकी से, तकनीकी–सहायता–समझौते का नाम देते हुए एक पर्दे में ढंक दिया जाता है जो बहुत ही छुपे हुए ढंग से इनके प्रबंधकीय नियन्त्रण को प्रकट करता

ही अन्य जिलों अथवा कपड़ा उद्योग व अन्य शाखाओं के उत्पादकों ने की थी। (*एक फुटनोट में लेंडिज ने इंगित किया है कि 62 का आंकड़ा वास्तव मे इसको कम करके आंकने जैसा है; इसमें कम से कम 15 की संख्या और जोड़ी जा सकती है*)। इस तकनीकी नवाचार को तेजी से अपनाने के पीछे पहले से हासिल समृद्धि व अनुभव था – जैसा कि यह लोहा एवं रसायन जैसे उद्योगों में था। अब हम पूरा चक्र घूमकर वापस मूल बिन्दु पर आए हैं; आंशिक रूप से नई खोजें इसलिये भी हुई कि उद्योग की वृद्धि एवं सम्पन्नता ने ऐसा होना अपरिहार्य बना दिया था एवं इन्हीं कारणों ने इन खोजों का जल्दी से व्यापक प्रयोग भी संभव बनाया।[82]

हैरी जे. जोनसन ने लिखा है :

"तथाकथित औद्योगिक क्रांति का दौर, सम्पूर्ण अठारहवीं और उन्नीसवी सदी के ज्यादातर हिस्सों में सम्पन्न हुई ऐतिहासिक रूप से महत्त्वपूर्ण तकनीकी विकास को बहुत ही प्रेक्टिकल लोगों द्वारा प्रभावी बनाया गया था, इनमें से बहुत कम लोग ही विश्व विद्यालय में प्रशिक्षित थे।"[83]

तकनालोजी को आम फहम सादगी से सोफिस्टीकैटिड़ होने में कुछ सदियों का लंबा सफर तय करना पड़ा है और वहाँ तरक्की की चाल उस समाज की माली हालात की तरक्की की चाल के बराबर बनी रही है। ये तो सिर्फ और सिर्फ किसी भी मखसूस मूल्क के समाजी और माली हालात होते हैं जो कि किसी भी किस्म के नये इजादों की मांग करते हैं, ज्यों–ज्यों उद्योगों का विकास हुआ, त्यों–त्यों सरमायेदारों ने मजदूरी में बचत के लिये मेहनत की बचत करने वाली मशीनों की जरूरत महसूसी ताकि वे अपने प्रतिस्पर्धियों से बेहतर मुकाबिला कर उससे आगे बढ़ सकें और इस तरह से तकनालोजी ज्यादा से ज्यादा कैपिटल–इंटेसिव होती गयी और इस तकनालोजिकल तरक्की में खास रोल अदा किया साईंस ने। और यहाँ तक कि नये उत्पादों और नयी उत्पादन प्रक्रियाओं की ईजादों के लिये मोनोपोली सरमायेदारों ने साईंस को भी एक कैपिटल के रूप में इस्तेमाल किया है। हैरी ब्रेवरमैन के शब्दों में –

"उत्पादन की सामाजिक प्रक्रिया के अप्रत्यक्ष रूप से स्वतःस्फूर्त प्रस्फुटित नव परिवर्तन की बजाय तकनीकी व उत्पादन का नियोजित विकास हुआ ..... बाकी सभी मालों की तरह इसकी पूर्ति का निर्धारण मांग के आधार पर ही होता है, सामग्री ऊर्जा स्रोत तथा पद्धतियों के विकास के परिणामस्वरूप यह पूंजी की तात्कालिक आवश्यकताओं के लिये कम आकस्मिक तथा ज्यादा उत्तरदायी हो गया है ..... नव परिवर्तन की कुंजी ..... स्वयं विज्ञान के पूंजी में परिवर्तित होने में ..... निहित है।" [84]

गुन्नर मिर्डिल सरीखे उदारवादी बूर्जुआ ने भी इस बात पर गौर किया है कि: "विकसित देशों में हुई वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति का असर अधोविकसित देशों पर हो चुका है और लगातार अब भी जारी है लेकिन सारतः यह प्रभाव अधोविकसित देशों के विकास की संभावनाओं के प्रति नुकसानदेह है।"[80]

औंधे–विकसित मुल्कों पर पच्छिमी तकनालोजी के उलटे असरों को मद्देनजर रखते हुए जब के. एम. पणिक्कर ने पचास के आखिर में यह बयान दिया तो वे सही ही थे कि : "दुनिया एक ऐसे महाकायाकल्प की दहलीज पर खड़ी है जिसमें वैज्ञानिक रूप से उन्नत राष्ट्रों और वैज्ञानिक रूप से पिछड़े (जहाँ पर कोई सामाजिक क्रांति नहीं हुई है– एस. के. जी.) राष्ट्रों के बीच एक गहरी और चौड़ी खाई बन जायेगी। जिसमें पिछड़े मुल्क हरेक जरूरी चीज के लिये अगड़े ताकतवर मुल्कों पर पहले से भी कहीं ज्यादा निर्भर होते चले जाऐंगे।"[81]

यह उधार की तकनालोजी एक ओर भारतीय बिचौलियों और उनके छुटभैयों की रईसी को तो बढ़ा रही है वहीं दूसरी ओर उसकी यानी खुद मुल्क की माली हालत और हिंदुस्तानी अवाम की जिंदगी पर बहुत ही बुरे असर डाल रही है और उसकी औंधी तरक्की को बरकरार रखने में भी मदद कर रही है। ना सिर्फ इसी की वजह से, संपदा की भारी मात्राओं का पलायन इसकी गरीबी को बढ़ा रहा है और सामराजी मुल्कों पर उसका आसरा दिन ब दिन बढ़ रहा है बल्कि इसी वजह से उसकी विकास प्रक्रिया धीमी और बिगड़ रही है और यही उधार की तकनालोजी ही उसके कुविकास की भी जिम्मेवार है।

जिन तकनालोजियों का पश्चिम से आयात किया जाता है, वे तकनालोजियाँ इन पश्चिमी मुल्कों के समाजों की जरूरतों और मांगों के मद्देनजर कई सदियों पहले विकसित की गयी थीं–खोजी गई थी। कम्प्यूटर तकनालोजी, रोबोटिक्स, न्यूक्लिअर साईंस, स्पेस तकनालोजी, इंफर्मेशन तकनालोजी और इसी किस्म की दूसरी तमाम विकसित प्रौद्योगिकियों के विकास के पहले पश्चिम में कई तकनालोजिकल ईंकलाब हो चुके थे। शुरूआती दौर में जब पच्छिम ने अपना औद्योगीकरण शुरू किया ही था तो तकनालोजियाँ आज के मुकाबले बहुत ही सादी और अन सोफिस्टीकैटिड थीं, यानी अपने जमाने के सामाजिक–आर्थिक हालात के अनुरूप ही।

लेंडीज को उद्धरित करें तो –

"इस प्रकार मिडलेण्ड में 1769 से 1800 के बीच स्थापित की गई 110 सूती कताई मिलों में से 62 की स्थापना होज़री व वस्त्र व्यापारियों के साथ

है।"[18] इसी मुद्दे पर बकौल किद्रौः "गहन–तकनीकी आधारित उद्योगों के संयुक्त उपक्रमों में हमेशा ही तकनीकी रूप से उन्नतिशील फर्म का कब्जा सुरक्षित बना रहेगा अब चाहे इस फर्म की वित्तीय भागेदारी कितनी भी कम क्यों न हो ?"[19]

जब तक अधोविकास की जिम्मेदार रूकावटों को दूर नहीं कर दिया जाता है, जब तक अर्ध–सामंती संबंध जारी रहते हैं और जब तक भारत पूँजीवादी साम्राज्यवादी व्यवस्थाओं के चारों ओर एक चक्करघिन्नी की तरह चक्कर काटना बंद नहीं कर देता है, तब तक भारत अधो विकसित ही बने रहने के लिये अभिशप्त रहेगा। लेकिन 'विकास' योजनाओं ने तो तरक्की के इन रोड़ों को हटाने के बजाए खुद भारत को ही पूँजीवादी–साम्राज्यवादी व्यवस्थाओं के साथ नत्थी कर दिया है।

यहाँ पर भारत के विकास की राह में खड़ी कुछ संरचनात्मक रूकावटों की चर्चा करना बेहतर होगा। योजनाओं को हाथों में लेते वक्त जमींदारी और तालुकेदारी का खात्मा कर दिया गया। लेकिन रियासतों–राज्यों और किसानों के बीच मौजूद रहे इन लगान जमा करने वाले बिचौलिया वर्गों को भारी हर्जाना चुकाया गया। लेकिन यथार्थ में, देहाती कुलीन तंत्र की मुठ्ठी में कैद भूमि के केंद्रीयकरण की समाप्ति के लिये लगभग कुछ भी नहीं किया गया। बकौल आठवीं पंचवर्षीय योजना–1992–93 : "सीलिंग–एक्ट लागू किए जाने के बाद 72.3 लाख एकड़ भूमि को सरप्लस घोषित किया गया जिसमें से सातवीं योजना के खात्मे तक 46.5 लाख एकड़ भूमि का बंटवारा कर दिया गया।" यानि, 1990 तक। (19क) पर यहाँ दो तथ्यों पर ध्यान दिया जा सकता है। एक तो यह कि शुद्ध बुवाई क्षेत्र 1430 लाख हैक्टेअर भूमि में से 20 लाख हैक्टेअर से भी कहीं कम हिस्सा ही बाँटा गया है। तिस पर भी इसका ज्यादातर हिस्सा तो मुश्किल से ही खेती करने लायक है। आठवीं पंचवर्षीय योजना यह भी कहती है "आठवीं योजना में पट्टेदारों और बंटाईदारों को भूमि पट्टेदारी के अधिकार की सुरक्षा देने के लक्ष्य को ध्यान में रखकर जोर दिया जाएगा।"[20] आठवीं योजना न सिर्फ यह स्वीकार करती है कि बँटाईदारी की व्यवस्था–जो कि लाजिमी तौर पर एक सामंती–उत्पादन संबंध है–आज भी चलन में है बल्कि यह भी कि आज भी पट्टेदारों और बंटाईदारों (पाँतीदारों) के पास उस खेत को लगातार जोतते रहने का अधिकार सुरक्षित नहीं है।

इकनोमिक एण्ड पोलटिकल वीकली–1979 में शाया एक लेख के अनुसारः "सम्पूर्ण श्रम–बल में कृषि का हिस्सा जरा भी कम नहीं हुआ है। जहाँ

1921 में यह 73 फीसदी था वहीं यह 1971 में 73.8 फीसदी हो जाने से इसमें सिर्फ कुछ ही वृद्धि हुई है।[21]

आठवीं पंचवर्षीय योजना (खण्ड – एक, पैज 13–14) के मुताबिक श्रम–बल का दो–तिहाई हिस्सा अब भी खेती–बाड़ी और इससे जुड़ी गतिविधियों में ही लगा है।

तुलनात्मक प्रतिशत के लिहाज से 1921, से लेकर 1971 तक और तब से आज तक कृषि–निर्भर श्रमबल की संख्या में जरा भी कमी नहीं आई है, लेकिन शुद्ध आंकड़ों के लिहाज से तो खेती पर निर्भर लोगों की तादाद कई गुना ज्यादा बढ़ गई है। खेती के अलावा काम का और कहीं भी कोई अवसर न मिलने की वजह से खेती के उसी सीमित क्षेत्र पर बेतरह और बेतहाशा ढंग से लोगों का एक भयंकर जमाव हो गया है। और नतीजतन खेतीहर आबादी भारी संख्या में बेरोजगार या फिर सिर्फ आंशिक रोजगार–प्राप्त होने के कारण संकट ग्रस्त हो गई हैं। पंचवर्षीय योजना ड्राफ्ट 1978–83 ने भी माना था "भूमि–सुधार के कदमों से देहाती संपत्ति के वितरण पर कुछ भी स्पष्ट असर नहीं पड़ा है।"[22]

योजना कसरतों की चौथाई सदी पूरी हो जाने के मौके पर इन योजना कार्यक्रमों के सिंहावलोकन के समापन में ड्राफ्ट पंचवर्षीय योजना में यह कुबूल किया गया था कि "योजना के उन सबसे महत्वपूर्ण लक्ष्यों – यानि पूर्ण रोजगार की प्राप्ति, गरीबी का खात्मा और एक अधिक बराबरी वाले समाज का निर्माण," यानि वे ही लक्ष्य जिन्हें फेरी हाँकने वालों की तरह गला फाड़–फाड़कर प्रचारित किया गया था–को अब भी हासिल नहीं किया जा सका है, वही उद्देश्य, जिनको हासिल करने के लिये हम उसी दिन से ही इतने लालायित रहे हैं, यानि जिस दिन से हमने नियोजित विकास की राहों पर कदम आगे बढ़ाये थे, मगर वे आज भी उतने ही कोसों दूर लगते हैं जितने पहले लगते थे।"[23]

पूर्वोक्त इकनोमिक एण्ड पालिटिकल वीकली में इसी सिंहावलोकन की पृष्ठभूमि में यह इशारा किया गया था कि "भूमि सुधार कार्यक्रमों में सरप्लस घोषित की गई भूमि के पुनर्वितरण का वास्तविक आँकड़ा सरकारी आकलन का सिर्फ चौथाई भाग ही है। सार यह है कि कुल जोती जा रही जमीन का सिर्फ आधा फीसद भाग ही पुनःवितरित किया गया है।"[24]

तो भू स्वामित्व की मूल समस्या अब भी अनसुलझी पड़ी है। विशाल मानव संसाधनों को या तो बिल्कुल ही उपयोग में नहीं लिया गया है या फिर उनका आधा–अधूरा उपयोग हुआ है, और इस तरह कृषि–सैक्टर का

उनके पास भारी परिसंपत्तियाँ हैं, खुद खूब मुनाफे कमाते हैं और सरकार द्वारा भी उन्हें भारी मात्रा में संसाधन उपलब्ध कराये जाते हैं।

यहाँ यह कहना ठीक ही होगा कि इन कंपनियों द्वारा आर. एण्ड. डी. के लिये निकाली गई राशियों को भी इससे संबंधित श्रेणियों में डालना संभव नहीं है। जैसा कि पूर्व उद्धृत फिक्की की रपट में लिखा गया है कि इन राशियों को खासकर उत्पादन और तकनीकों के आत्मसातीकरण की फौरी दिक्कतों को हल करने में खर्च किया जाता है न कि नये उत्पादों और उत्पादन–प्रक्रियाओं के नवीनीकरण करने के लिये।

जापान सरीखें विकसित पूँजीवादी मुल्कों ने भी तकनोलोजीयों का आयात किया है लेकिन ये काम उन्होंने खुद अपनी ही शर्तों और अपने ही ढंग से किया है। मिसाल के लिये, जापान उन प्रतिबंधों की शर्तों पर नहीं झुका है जो कि भारत पर लागू हैं। जापानी एकाधिकारवादियों ने इन आयातित तकनालोजियों का ना सिर्फ आत्मसातीकरण, अनुकूलन और परिवर्तन किया है बल्कि उन्हें विकसित करते हुए नये उत्पादों और उत्पादन–प्रक्रियाओं का नवीनीकरण भी कर दिया है और इस तरह से तकनालोजी के कई हलकों में वे अपने विरोधियों से भी आगे निकल गये हैं। एक अंदाज के मुताबिक जापान द्वारा औद्योगिक आर. एण्ड. डी. पर किया जाने वाला खर्चा विदेशियों को रोयल्टियों और फीसों के रूप में चुकायी गयी एकमुश्त रकम से बहुत ही ज्यादा होता है।[77] *बिजनिस स्टैण्डर्ड* में छपे एक लेख के अनुसार भारत के उद्योग, आर. एण्ड. डी. पर अपने टर्न ओवर का सिर्फ 0.68 फीसद खर्च करते हैं जबकि जापान का यही खर्चा आनुपातिक रूप से 12 फीसद होता है।[78]

वैज्ञानिक एवम् औद्योगिक अनुसंधान परिषद् के महानिदेशक डॉ. आर. ए. माशेल्कर नें इकनोमिक टाईम्ज को एक इंटरव्यू में बताया कि : "..... *बासी तकनालोजियों के आयातों से हमें और भी बहुतेरे नुकसान बर्दाश्त करने पड़े हैं, इसने नयापन पैदा करने के हमारे सहज गुण को भी खत्म कर डाला है.....इसलिये, इस बात को अब अपने दिमाग में ठीक ढंग से बैठा ही लेना होगा कि उच्च–तकनीकों की खरीद हमारे लिये जरा भी आसान नही रही है और अब जो भी कुछ उनके द्वारा हमें दिया जाएगा वो सिवा झूठन के और कुछ भी नहीं होगा।"*[79]

अपरिहार्यरूप से विकसित पूँजीवादी मुल्कों और भारत सरीखे मुल्क जो कि उधार की टेक्नोलोजी की बैसाखियों के सहारे आगे बढ़ना चाहते हैं, ऐसे में दोनों ही तरह के मुल्कों की तकनालोजियों के बीच, मौजूद फर्कों की खाई लगातार ही चौड़ी जायेगी।

द्वारा 1,885 निजी क्षेत्र की कंपनियों, जो कि 1989 के आखिर तक गैर–राजकीय गैर वित्तीय पब्लिक लिमिटेड कंपनियों के कुल पैड–अप कैपीटल के 57.1 फीसद हिस्से के बराबर बैठती हैं, के अध्ययन की एक रपट में इस 'योगदान' की सच्चाई का बहुत ही जोरदार ढंग से पर्दाफाश किया गया है। वर्ष 1988–89 में इन कंपनियों का टर्न ओवर करीब 69000 करोड़ रूपये था जबकि इसी साल इन्होंने आर0 अेण्ड डी. में निवेश किया सिर्फ 47 करोड़ रूपये यानि टर्न ओवर का मात्र 0.07 फीसद जबकि इसी साल में इन्हीं कंपनियों द्वारा विदेशी आयात पर 5,415.5 करोड़ रूपयों का खर्चा किया गया और इसी के साथ लाभांशों, रोयल्टि़यों और तकनीकी फीसों के रूप में कुल जमा 721.4 करोड़ रूपयों का विदेशी विनिमय भुगतान भी किया गया। जबकि इनके द्वारा विज्ञापनों पर किया गया खर्चा ही तुलनात्मक रूप से आर. एण्ड. डी. पर किये गये खर्चे का दस गुना था।[76]

विज्ञान एवम् तकनीकी विभाग के तकनीकी अध्ययन केंद्र द्वारा कराये गये एक अध्ययन में अवलोकित किया गया "उदारीकरण के बावजूद, फर्मों का आर. एण्ड. डी. पर खर्चा बहुत ही कम बना हुआ है।" इस अध्ययन के अनुसार, भारतीय शासक वर्ग के प्रवक्ताओं के दावों के बरखिलाफ, विदेशी इक्विटी का हिस्सा आर. एण्ड. डी. गतिविधियों के साथ नकारात्मक ढंग से जुड़ा हुआ है। और यह भी कि कच्चे मालों और कम्पोनेंट्ज पर निर्भरता की मात्रा भी आर. एण्ड. डी. की तेजी के साथ नकारात्मक ढंग से जुड़ी हुई है। और आगे : "आयातों के उदारीकरण ने स्वदेशीकरण करने के दबाव को कम कर दिया है और उदारीकरण के दौर के बाद आयातों की उच्च तीव्रता जुड़ गयी है आर. एण्ड. डी. की निम्न तीव्रता के साथ। (*द स्टैट्समैन*, कलकत्ता, 3 सितम्बर, 1973)। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के विकास अनुसंधान समूह द्वारा किए गये एक अन्य अध्ययन में इस बात पर खेद प्रकट किया गया कि, "पिछले तमाम सालों से हो रहे विदेशी तकनीकी समझौतों, विदेशी लाईसेंस व्यवस्थाओं और विदेशी निवेशन स्वीकृतियों के इस सारे खेल में देश में ही इन तकनीकों के खप जाने और इनके तकनीकीकरण की क्षमताओं और योग्यताओं में ऐसा कुछ भी असर पैदा नहीं हुआ है कि वह खुद अपने ही बूते खड़ा रह सके अंतर्राष्ट्रीय बाजार में।" (द स्टैट्स मैन, कलकत्ता, 24 नवम्बर, 1993 के साथ ही देखें इ. टी. 23 अप्रेल, 1997 का आलेख – "सौतेलेपन से") इसी से भारत के बड़े बूर्जुआजी की दलाल हैसियत का पर्दाफाश होता है। कि वे पूँजीमालों और तकनोलोजीयों के लिये विदेशी बहुराष्ट्रीय निगमों पर निर्भर रहना पसंद करते हैं– बावजूद इसके कि खुद

वास्तविक आर्थिक सरप्लस संभावित सरप्लस से कम ही रहा है और अधिकांशतः यह सरप्लस भी भूस्वामियों, सूदखोरों और व्यापारियों द्वारा खसोट लिया जाता है। लेकिन यह लूटा गया सरप्लस भी किसी उत्पादक कार्य में नहीं बल्कि ज्यादातर भूमि की खरीद साहूकारी और सट्टेबाजी में लगा दिया जाता है। इस तरह अधिसंख्य किसानों के पास क्रय शक्ति की कमी के कारण आम जरूरतों को पूरा करने वाले औद्योगिक मालों के बाजार में भी ठहराव बना रहता है। इसलिये यह कहना ठीक ही होगा कि कृषि–क्रांति के बगैर उद्योगों में नवजीवन संभव है ही नहीं।

और तो और बरसों तक भारत को, खाद्य तक के लिये भी यू. एस. ए. पर निर्भर रहना पड़ा था। साठ के बीच में, जब खाद्य समस्या बहुत खतरनाक ढंग से गहरा गई थी, तब भारतीय शासक वर्ग ने अपने वर्ग चरित्र के कारण कृषि के ढांचे में कोई आमूल बदलाव लाने में लाचार होने तथा अमरीकी साम्राज्यवाद और विश्व–बैंक के अंकुश में होने के कारण, खाद्य समस्या के निराकरण के लिये भी टेक्नोक्रेटिक नीति अपनाई और आखिरकार हरित क्रांति को चुना।[25] नीतियों के क्षेत्र में हुआ यह बड़ा खिसकाव, अन्य नीतिगत निर्णयों की भांति ही, खुद भारतीय योजनाकारों द्वारा शुरू नहीं किया गया था बल्कि इनके आकाओं अमरीकी साम्राज्यवाद और इन्हीं शक्तियों द्वारा नियन्त्रित विश्व–बैंक के इशारों पर हुआ था। इन योजनाओं ने तो बस सिर्फ इतना ही किया कि वे तो बस वाशिंगटन निर्मित योजनाओं के सांचों में ढल गईं।

फिर यह हरित क्रांति भी–पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उ. प्र. और कुछ दूसरे राज्यों के कुछेक पोकेट्स के सिंचित क्षेत्रों तक ही सीमित है। उच्च पैदावार देने वाले संकर बीजों, रासायनिक खादों, कीटनाशी–खरपतवार नाशी दवाओं आदि में भारत–सरकार ने भूस्वामियों को भारी सब्सिडियों के रूप में एक पैकेज दिया। इसके साथ ही फार्म मशीनरी और सालभर जलापूर्ति की सुनिश्चित उपलब्धता के लिये बहुत कम ब्याज दर पर लोन आवंटित किए गए। इसके अलावा नहरी सिंचाई की दरों और ट्यूब–वेलों के लिये बिजली पर भी अत्यधिक सब्सिडियाँ दी गईं और उनके सरप्लस उत्पाद को सरकारी एजेन्सियों के मार्फत एक ऐसी कीमत पर खरीदा जाता जिनमें बड़े भू स्वामियो के लिये एक आकर्षक लाभ रहता है (हालाँकि ठीक इन्हीं इलाकों में गरीब और मझौले किसानों के लिये ऐसा नहीं होता है)। लेकिन हरित क्रांति के लिये आम जनता को लाखों–करोडों रुपयों की कीमत चुकानी पड़ी। इसने वर्ग और वर्ग, क्षेत्र एवम् क्षेत्र के बीच असमानता को बढ़ाया।

इसने चुनिंदा क्षेत्रों में, सम्पन्न किसानों के हितों को फलीभूत किया जो कि सरकारी उदारता का फायदा उठाने में सक्षम हैं, मगर उन गरीब और भूमिहीन किसानों के नुकसान की कीमत पर कि जिन्हें अनाज खरीदना पड़ता है, और वो भी लगातार बढ़ती कीमतों पर। इसी कारण, भू–उर्वरताक्षय (सोइल डिग्रेडैशन) और अधिकांश मत्स्य–संपदा का नाश हो चुका है। रासायनिक खादों और पेस्टिसाईड्ज के उपयोग में जरूरी एहतियात न बरतने की वजह से अवाम की आम तंदरूस्ती के लिये जोखिम पैदा हो गया है। चावल और गेहूँ की सिर्फ कुछेक संकर नसलों का सब जगह एक समान प्रयोग करने की वजह से चावल और गेहूँ की बेशकीमती देशी परंपरागत किस्में तो इस देश से गायब ही हो चुकी हैं।

तो फिर आख़िर इस "क्रांति" से हमें हासिल क्या हुआ है ?

बस यह कि अब पहले के मुकाबले भारत की अनाज आयात निर्भरता करीब–करीब खत्म हो गई है लेकिन खाद्य तेलों का अब भी भारी मात्रा में आयात होता है। लेकिन अनाजों के मामले में यह स्वपूर्तिकरण (सेल्फ सफिसिऐंसी) की स्थिति सच्चाई से दूर, बस दिखावे भर की है। यह इस वजह से कि चालीस या इससे भी ज्यादा फीसदी लोग वर्ष के अधिकांश समय भूखे या अधभूखे रह जाते हैं। और यह सब कुछ हो रहा है "आत्मपूर्तिकरण" (सेल्फ सफिसिऐंसी) हासिल कर लेने के ढोल–पीटने की आड़ में।

तीन राज्यों–पंजाब, हरियाणा और दिल्ली के चैंबर ऑफ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्री (PHDCCI) द्वारा दिस. 1988 में "भारत में कृषि मूल्य नीति" विषय पर जारी किये गये एक विवरण के अनुसार–

"हरित–क्रांति" के बाद तथा समर्थन मूल्य योजना के बाद की अवधियों में उत्पादन वृद्धि दरों में ध्यान देने योग्य गिरावट आयी है।। 1951 से 1964 तक यह 3.2 फीसद सालाना की दर से घटी है। यह बात अनाजों के मामलों में भी सही है जिन पर 1960 के मध्य दशक से ही जोर दिया गया था। यह वृद्धि दर 3.1 से 2.5 फीसद सालाना की दर पर आ लुढ़की। प्रतिव्यक्ति उत्पादन में गिरावट तो और भी ज्यादा स्पष्ट है।[26]

हरित क्रांति के शो–केस पंजाब में 1984 से 1994 की अवधि के दौरान अनाज उत्पादकता वृद्धि दर 3.8 फीसद सालाना थी वहीं अखिल भारतीय औसत वृद्धि दर 2.5 फीसद सालाना थी। तो फिर कौनसा तीर मार लिया इस हरित क्रांति ने ?[27]

वैज्ञानिक एवम् औद्योगिक अनुसंधान परिषद (CSIR) के कामों की समीक्षा के लिये गठित आबिद हुसैन कमेटी ने 1986 के आखिर में छपी अपनी रिपोर्ट में कबूल किया था कि सीएसआईआर का पूरा ढांचा ना सिर्फ "इल्म के नये हल्कों या तरक्की की नयी जमीनें को तोड़ने में" बल्कि "मोडर्नाईजैशन तो दरकिनार रहा हमारे समाज और उसकी अर्थव्यवस्था की फौरी जरूरतों को पूरा करने वाले तकनीकी विकासों" तक को हासिल करने में बुरी तरह से नाकाम रहा है। इसमें आगे लिखा है "सी. एस. आई. आर ढांचे का ये यकीन है कि *मैन्युफैक्चरिंग फर्में, जिनमें तकनालोजी को पचा लेने और उसका विकास करने की क्षमता नहीं है, ऐसी फर्में हमेशा कामयाब साबित हुई तकनालोजी को आयात कर लेने का आसान हल चुन लेती है।*" इसमें जोर देकर जोड़ा गया कि : "यहाँ ऐसी कई मिसालें देना मुमकिन है कि जब भी किसी वक्त किसी खास सैक्टर के लिये तकनालोजी को बाहर से मंगवाया गया तो *ऐसी तकनालोजी के शामिल होने की वजह से उस सैक्टर में उसका अनुकुलन, विस्तार और नयापन आने के बजाए उसमे ठहराव ही आ गया और ठीक इसी दौरान,* चाहे वो कॉर्पोरैट सैक्टर हो या सी. एस. आई. आर. का ढांचा, तकनालोजी के देशी विकास में कोई भी प्रोन्नयन नहीं हुआ। तकनालोजी के आयात के बाद अकसर एक ठहराव आ जाता है चूँकि जो फर्में इन तकनालोजियों को बाहर से मंगवाती हैं उनकी रूचि सिर्फ इस बात में होती है कि इन तकनीकों से उनका उत्पादन वृद्धि करे और फिर फैारन फायदा हो जाए.....*और फिर भविष्य में जब भी टैक्नीकल–अपग्रैडैशन की जरूरत महसूस होगी तो एक बार फिर बढ़िया तकनोलोजी को बाहर से मंगवा लेने का आसान नुस्खा तो हाज़िर है ही।*"[74]

अनुसंधान एवम् विकास (R and D) की कॉर्पोरैट सैक्टर में भूमिका के विषय पर फिक्की (FICCI) द्वारा हाल ही में करवाये गये एक अध्ययन की रपट में भी यह कहा गया है कि *"आर एण्ड डी पर औद्योगिक मुल्कों मे उत्पादन का 4 फीसद निवेश होता है वहीं भारत में यह बहुत निराशाजनक है–सिर्फ 0.7 फीसद, नतीजतन आर. एण्ड. डी. की सहूलियतों के बावजूद तकनालोजी के लिये विदेशी आयात की निर्भरता को बढ़ते चले जाना है। दरअसल सहूलियतों और फण्ड्ज का उपयोग सिर्फ उत्पादन और तकनोलोजी के रूपान्तरण की फौरी दिक्कतों को हल करने में ही न्यौछावर कर दिया जाता है।*"[75]

ऐसा लगता है कि आर. एण्ड. डी. में कॉर्पोरैट सैक्टर के अनुमानित योगदान के गुब्बारे को काफी फुला दिया गया है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया

सिर्फ 10 फीसद हिस्सा ही है। पूँजीमालों, मशीनों के संयोजनों, उनके उप संयोजनों, हिस्से–पुर्जों, इनके बीच के हिस्सों और तकनीकी सेवाओं के आयातों के रूप में विदेशी साझीदारों को छद्म रूप में कहीं ज्यादा ही बड़ी रकमें चुकायी जा रही है।[71]

"तकनीकी जानकारियों पर कब्जे के निजाम को बरकरार" रखने के लिये समूची उत्पादन प्रक्रिया की जानकारियाँ विदेशी साझीदार बिरले ही भारतीय साझीदारों को उपलब्ध कराते हैं। बक़ौल किद्रौं, "दक्षताओं का जो भी विस्तार होता है वह आमतौर पर आकस्मिक ही होता है।"[72]

इसके अलावा भी, इस जमाने में जहाँ हर रोज नयी से नयी तकनीकें खोजी जा रही हैं और पुरानी तकनीकें बासी पड़ती जा रही हैं, ऐसे वक्त में नयी तकनीक के लिये भारतीय साझेदार की निर्भरता वर्ष पर्यन्त बनी रहती है, और जब भी इस तकनीक को बेहतर बनाने की जरूरत महसूस होती है। तो वे व बस नवीन तकनीकों को आयात कर लेने का आसान उपाय चुन लेते हैं।

बिड़ला कंपनी के लिये हिंदुस्तान मोटर्ज नामक पहला भारतीय ऑटोमोबाईल प्लान्ट 1943 में युनाईटिड किंगडम की नाफिल्ड कम्पनी की सहायता से स्थापित हुआ था। बिड़ला समूह ने गुजिश्ता तमाम सालों के दौरान अलग–अलग बहुराष्ट्रीय कंपनीयों के साथ कारों, हल्के वाणिज्यिक वाहनों आदि के निर्माण के लिये तमाम तरह के साझीदारी समझौते किए हैं, यहाँ तक कि आज भी, आधी से ज्यादा सदी गुजरने के बाद भी, कार के पुराने मोडलों को रिडिजाईन करने, या उनमें नये ऐंजिन फिट करने या नये मोड़ल बाजार में उतारने के लिये भी हिन्दुस्तान मोटर्ज विभिन्न बहुराष्ट्रीय कम्पनियों पर शर्मनाक ढंग से निर्भर है। बिड़ला, टाटा, हिराचंद (PAL), महिन्द्रा, श्रीराम, सीपाना जैसे औद्योगिक घरानों के साथ ही साथ भारत के राजकीय क्षेत्र ने भी दुनिया की विभिन्न भीमकाय ऑटोमोबाईल कंपनियों–जैसे अमरीका की जनरल मोटर्ज, फोर्ड, क्रिस्लर, जर्मनी की डैमलर–बैंज, इटली की फ्रिस्ट, फ्राँस की पीऊजो (Peugeot), दक्षिण कोरिया की डैवु, जापान की सुजुकी और इसी तरह की दूसरी कंपनीयों के साथ साझेदारी समझौते किए हैं, अब डी. सी. एम–डैवु, टैल्को–डैमलर–बैंज और प्रिमिअर ओटोमोबाईल्ज (PAL) – पिऊजो चाह रहे हैं कि मल्टिनैशनल्ज के साथ सी. के. डी. शर्तों के आधार पर कारों के हजारों की तादाद में कलपुर्जों को आयात कर उन्हें भारत में ही असेम्बल किया जाए। डी. सी. एम.–डैवु को तो सीकेडी किट्ज के रूप में 350 करोड़ रूपयों की किमत की 20,000 कारों को आयात कर लेने की इजाजत सरकार द्वारा मिल भी चुकी है।[73]

पूर्वोक्त तीन राज्यों के चैंबर (PHDCCI) द्वारा प्रसारित विवरण में ही वह टिप्पणी थी कि : "जो भी तकनीकी रूपांतरण हुआ है वो अत्यधिक सीमित इलाकों में और वो भी सिर्फ सीमित संख्या की फसलों में ही हुआ है। इससे न तो खास ढंग से उत्पादकता सुधरी है और न ही उत्पादन में बढ़ोतरी हुई है। कृषि उत्पादन की मूलभूत खामियों, अकुशलताओं को, समर्थन–मूल्य नीतियों, सब्सिडियुक्त, लोन, संकर बीजों, पेस्टी साइड्ज और खरपतवारनाशी दवाओं–जैसी तमाम जुदा तरकीबों को अजमाने के बावजूद भी खत्म नहीं किया जा सका है।[28]

इस नोट में आगे कहा गया है :

"आधुनिक लागतों की कीमतें, या अन्य शब्दों में, तकनीकी रूपांतरण की कीमत, ध्यानाकर्षण करने वाले ढंग से ऊँची रही है। पर एक सवाल जो यहाँ नमूदार होता है वो ये है कि खेती–बाड़ी में हमने जो भी तरक्क़ी की है आख़िर हमने उसकी कितनी क़ीमत चुकायी है ? तकनीकी तरक्क़ी को तभी कामयाब माना जा सकता है जब इसका अर्थ यह होता है कि किसी एक निवेश–लागत स्तर पर और इसी के अनुरूप प्रति इकाई लागत मूल्य के निम्न स्तर पर कहीं ज्यादा उत्पादन हासिल किया जाता है। लेकिन हमारे मामले में तो ऐसा बिल्कुल नहीं हुआ है। और किसी को इस बात पर भी अचरज हो सकता है कि मूल्य नीति, उत्पादन मूल्य को नियन्त्रित कर पाई है या नहीं; और इसके नतीजों ने किसानों के शुद्ध लाभ को बढ़ा दिया है या नहीं ? हम पहले ही देख आये हैं कि जहाँ कहीं भी तकनालोजिकल तरक्क़ी हासिल की जा सकी है, यानि जैसे पंजाब और हरियाणा में, वहाँ किसानों का शुद्ध लाभ घट गया है। और छोटे सीमांत किसान के मामलों तो यह ख़ासकर सच है।"[29]

ज्यों–ज्यों उत्पादन वृद्धि दर घटती जाती है त्यों–त्यों तो प्रति इकाई–उत्पादन–मूल्य में बढ़ोतरी होती जाती है। यह एक नियम है। (1980–81) की कीमतों को आधार मानकर 1980–1 और 1987–8 के दर्मियान कुल लागतों में 3.7 फीसद सालाना की दर से बढ़ोतरी हुई थी लेकिन ठीक इसी अवधि के दौरान उत्पादन की वृद्धि दर 1.2 फीसद सालाना मात्र थी।[30] और इसी का नतीजा निकलता है अनाज की लगातार बढ़ती कीमतों में। जैसा कि एम.एल. दाँतवाला लिखते हैं :

"लगातार ही हम इस मुद्दे पर बहस करते आ रहे हैं कि भारतीय कृषि से संबंधित सबसे ज्वलन्त मुद्दा यह है–लगभग सभी फसलों की उत्पादन लागतों का लगातार बढ़ते जाना। अत्यधिक ऊँचे समर्थन मूल्यों से संरक्षित गेहूँ और चावल की फसलों को हम एक ऐसी कीमत पर पैदा करते हैं कि हमारे देशी उपभोक्ताओं का एक बड़ा भारी हिस्सा इन मँहगे उत्पादों को ख़रीद सकने में आर्थिक रूप से सक्षम नहीं हो पाता है।"[31]

मुक्तहस्त सरकारी प्रोत्साहन राशियों के बलबूते भू–स्वामी–वर्ग, कुछ भी क्षेत्रों में पहले के मुकाबले कहीं ज्यादा ताकतवर हो गया है, लेकिन गरीब और बेजमीन किसानों को हरित–क्रांति ने कई तरह से घातक–चोटें पहुँचाई हैं। पूर्वोक्त तीन राज्यों के चैंबर ऑफ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्री (PHDCCI) के ही विवरण के अनुसार–ज्यादातर लघु और सीमान्त किसान (जो कि क्रमशः 1.0–2.0 हैक्टेअर तथा 1.0 हैक्टेअर से कम जमीन पर खेती करते हैं।) तो लागतों में मिलने वाली इन सब्सिडि–छूटों का भी उपयोग तक नहीं कर पाते हैं, उन्हें तो इन वस्तुओं की अनुदानित कीमतें तो अपनी पहुँच से परे लगती हैं, और "कामचलाऊ पूँजी के लिये वे मुख्य रूप से कर्जों के सहारे रहते हैं और उसका भी ज्यादातर हिस्सा गैर–संस्थागत क्षेत्रों से हासिल किया जाता है, "क्योंकि आमतौर पर वे", संस्थागत कर्ज पाने में भी सक्षम नहीं होते हैं।"[32] इस तरह ज्यों–ज्यों कीमतें चढ़ती हैं, आमतौर पर गरीब किसानों और खासतौर पर भूमिहीन किसानों के पेट पर लात पड़ती है।

प्रफेसर गुन्नर मिर्डल का ये कहना सच ही है कि–*"बिलाशक, बेहतर बीज भी कृषि–सुधारों की जगह नहीं ले सकेंगे*.....बेहतर बीजों और दूसरी उन्नत तकनीकों का फैलाव भी, तब तक ज्यादा नहीं होगा जब तक कि भूमि–सुधार लागू नहीं कर दिया जाता। असल में तो बगैर इन भूमि–सुधारों के तो उन्नत बीजों की उपलब्धता के फायदों को उठाकर कुछ दूसरे वर्ग भी उन प्रतिक्रियावादी देहाती तबकों की जमात को और बढा देंगे जो कि इन अधो विकसित देशों की देहाती आबादी में पहले ही असमानता को बढ़ा रहे हैं।"[33]

बकौल माइकैल टैंजर, "किसी भी अधो विकसित देश की सरकार की वास्तविक प्रकृति की जाँच तो भूमि–सुधारों के प्रति इसके नजरिये की अम्ल परीक्षा (एसिड–टेस्ट) से ही होती है।"[34]

एक तरफ तो ग्रीन रिवोल्यूशन ने देहाती कुलीन तंत्र की आर्थिक और राजनैतिक सत्ता को मजबूत किया है वहीं दूसरी तरफ यू. एस.ए. और दूसरे पश्चिमी देशों के कृषि–केंद्रित–कारोबारी–उत्पादों (एग्री बिजनिस), मसलन केमिकल फर्टिलाइजर्स, पेस्टी साइड्ज, हर्बिसाइड्ज, हाईब्रिड बीजों और फार्म–मशीनरिज के लिये तो इसने मानो एक बड़ा बाजार ही खोल दिया है। इनमें से कुछ को तो बाहर से मंगवा लिया जाता है और कुछ को ट्रांसनैशनल कंपनियां अपने भारतीय साझीदारों के साथ यहाँ निर्मित करती हैं, जैसा कि हैरि एम. क्लिवर जुनियर ने लिखा कि हरित क्रांति दरअसल, "पश्चिमी पूँजीवादी आर्थिक संस्थाओं द्वारा तीसरी दुनिया के कृषि–क्षेत्रों में लंबे ऐतिहासिक काल से सतत बढ़ती हुई घुसपैठ के एक नये अध्याय के सिवा

"औद्योगिक शुरूआत देरी से शुरू करने वाले मुल्कों को ये फायदा हासिल होता है कि वे औद्योगिक मुल्कों की कामयाब और फायदेमंद तकनालोजियों का इस्तेमाल अपने यहाँ पूरे भरोसे के साथ कर सकते हैं।"[70] यानी पिछड़ा होना और अधोविकसित होना भारतीय योजनाकारों की नज़र में बड़ी स्वागतयोग्य और खुशकिस्मती की बात है। (जोड़ा गया–अनु.)

साम्राज्यवादी पूँजी पर निर्भरता की तरह ही, ऊपर से खुशनुमा लगते तर्कों के आधार पर, साम्राज्यवादी महानगरीय राष्ट्र राज्यों से तकनालोजी के आयात और सिर्फ उन्हीं पर शर्मनाक ढंग से निर्भरता ही अब भारतीय योजनाओं की मूल आंतरिक बनावट यानी रीढ़ बन गई है। वित्तीय सह तकनीकी समझौतों के अलावा भी, प्राईविट एवम् पब्लिक–दोनों ही सैक्टरों में बहुराष्ट्रीय और भारतीय कंपनीयों द्वारा और शुद्ध तकनीकी गठजोड़ों का भारत प्रवेश हो चुका है और इनकी तादाद दिन ब दिन बढ़ती ही जा रही है।

तकनीकी सहयोग संबंधी समझौतों के तहत ट्राँसनैशनल कंपनियाँ अपनी जानकारीयों को हमेशा के लिये नहीं बेचते हैं बल्कि इसके बजाए वे अपने भारतीय साझीदार को अपनी जानकारियों और पेटेन्ट्स को एक सीमित अवधि के लिये उपयोग में लेने का लाईसेंस देते हैं और इसके एवज में वसूलते हैं तकनीकी फीसों और रोयल्टियों आदि के रूप में भारी भरकम राशियाँ, और तिस पर भी ये तकनीकी समझौते तमाम तरह के प्रतिबंधों की शर्तों से भरे पड़े होते हैं। इनमें भारतीय सहयोगी को इस बात की इजाजत नहीं होती कि वह अपने द्वारा उपयोग में ली जा रही टेक्नोलोजी को इम्प्रुव कर किसी और कंपनी के काम में ले ले। इसलिये तकनोलोजी का आयात–चक्र लगातार दुहराया जाता रहता है। फिर किसी भी एक खास उत्पाद के लिये प्रयुक्त की जा रही उसी तकनालोजी का लाइसेंस कई सारे भारतीय सहयोगियों को दिया जाता है और एवज में हरेक अलग–अलग भारतीय साझीदार से फीसों और रोयल्टियों की शक्ल में एकमुश्त ढंग से भारी भरकम रकमें वसूली जाती हैं। *फाइनैन्शल एक्सप्रैस* नई दिल्ली, 29 अगस्त 1990 के संस्करण में छपी एक ख़बर के मुताबिक विदेशी साझीदारों को चुकाये गये तकनीकी संबंधी भुगतानों की एक मुश्त रकम 500 करोड़ रूपयों से भी ज्यादा बैठी थी। इसी विषय पर आयोजित एक सेमीनार को संबोधित करते हुए तकनीकी विकास महानिदेशालय के सचिव ने इशारा किया कि *टैक्नोलोजी ट्राँसफर की एवज में विदेशी साझीदारों को सीधे–सीधे भेजी गई रकमें तो दरअसल पानी से बाहर नजर आने वाला आईसबर्ग का*

भी अपनी मातृ–कंपनी को स्थानांतरित कर सकती है और यह कारस्तानी की जाती है आयातित निवेशों (यानि मशीनों, कम्पोनेन्ट्स, स्पेअर पार्ट्ज, कच्चे मालों आदि के) दामों को खूब ऊँचा बढ़ाकर (ओवर–प्राइसिंग).....इस हद तक की आखिरकार सब्सिडियरी को माल या सेवाएँ अपनी मातृ–कंपनी को बेचनी पड़ती हैं और यूँ कॉर्पोरेशन को एक और मौका हासिल हो जाता है कि वो इन संसाधनों का स्थानांतरण मालों और सेवाओं के रूप में इस तरह कर सके कि उनकी कीमतें उस समय के विश्व बाजार की कीमतों से खासी नीचे हों।"[66]

सातवें दशक की शुरूआत में कौंस्टैन्टिन वैटसोज ने इंगित किया था कि, "कोलंबिया में अति–मूल्यन (ओवर प्राइसिंग) के नतीजों से हासिल हुई खालिस रकमें रौयल्टियों की छः गुना और घोषित नफों की 24 गुना बैठतीं थी।"[67] एक अन्य आलेख में वैटसोज ने लिखा : "सब्सिडी के नफों, रोयल्टि भुगतानों और मध्यवर्ती उत्पादों के अति–मूल्यीकरणों के सकल योग को मातृ कॉर्पोरैशन की प्रभावी आय के रूप में परिभाषित करते हुए कोलंबिया की फार्मास्युटिकल इण्डस्ट्री से संबंधित तथ्यों से हमारे द्वारा लिये गये आँकड़ों की एक बानगी से हम यहाँ कुछ नतीजों पर पहुँच सकते हैं। रिपोर्ट किये गये कुल नफे में 3.4 फीसद हिस्सा प्रभावी आय का, 14.0 फीसद हिस्सा रोयल्टियों का और 82.6 फीसद हिस्सा अति मूल्य निर्धारणों का था।"[68] आगे जोड़ते हुए उन्होंने लिखा कि "ऐसे भी मामले दरपेश हुए हैं कि रोयल्टियों का कुल भुगतान.....कई दफा नफों या फिर निवेश से पैदा हुए फायदों से कई गुना ज्यादा करना पड़ा है।"[69]

ये सबूत काबिले गौर है कि भारत में विदेशी पूँजी निवेशों और यहाँ तक कि प्राईविट सैक्टर के साथ ही साथ पब्लिक सैक्टर में जो भारतीय पूँजी–निवेशन हुआ है उसका असर भारत में बहुत ही कम झलकता है। विदेशी पूँजी, दलाल पूँजी और यहाँ तक कि राजकीय पूँजी द्वारा स्थापित किये गये उद्यमों को भी वांछित मशीनरी, कंपोनेंट्स, स्पेअर पार्ट्ज, औद्योगिक कच्चे मालों और तकनालोजिकल जानकारियों के लिये बेहतर ढंग से पूँजीवादी देशों पर निर्भर रहना पड़ता है। *भारत का अंदरूनी बाजार बजाए इन उद्यमों के उत्पादों की मण्डी बनने के अधिकांशतः सिर्फ पश्चिमी और जापानी पूँजीवाद के लिये "अंदरूनी बाजार का दुमछल्ला भर" बन गया है। मुल्क की ऐसी तरक्की इसके संसाधनों को बढाने के बजाए इन्हें घटाती ही है। वे तो सिर्फ सामराजी मुल्क ही हैं जो ऐसी 'तरक्की' से नफों में रहते हैं।*

दूसरी पाँच साला योजना ने भी इस बात पर जोर डाला था कि

कुछ भी नहीं है।"[35] और इस क्रांति का दूसरा दौर तटकर एवम् व्यापार समझौता संधि (गैट) पर दिस. 1994 में भारत द्वारा दस्तखत किए जाने के साथ शुरू हो चुका है, बकौल पैट रोई मुनि, "बीज आपके कब्जे में हैं तो फिर इससे आपको समूचे खाद्य तंत्र पर कब्जा हासिल करने में जोरदार ढंग से मदद मिलेगी–मसलन कौनसी फसल बोनी है–किस तरह के लागत निवेश किए जाएँ–और फिर उपज को कहाँ बेचा जाए ? ..... और इस तरह से सारी दुनिया के बीज उद्योगों पर वैश्विक नियन्त्रण (कुछेक ट्रांसनैशनल कंपनियों द्वारा) के ही जरिये होगा हरित क्रांति के दूसरे दौर का पवित्र–शुभारंभ।"[36] और यह होकर ही रहेगा चूंकि गैट संधि में दुनियाभर के बीज–उद्योग पर कुछेक पश्चिमी ट्रांसनैशनल कंपनियों द्वारा कब्जाए जाने का पुख्ता इंतजाम है।

भारतीय कृषि में साम्राज्यवादी पूँजी का प्रवेश तुलनात्मक रूप से अभी हाल ही का विकास है। इसने भारतीय कृषि में इसके कुछ क्षेत्रों में एक खास किस्म के बौने–पूँजीवादी लक्षणों को प्रोत्साहित किया है जबकि देश के समूचे ही पुराने मूल ढांचे को मूलतः जस का तस बनाये रखा है। (भारतीय कृषि पर साम्राज्यवाद की जकड़न और वर्तमान कृषिक संबंधों पर कुछ अधिक विस्तारित वर्णन लेखक की शीघ्र प्रकाश्य पुस्तक–"भारतीय कृषिः साम्राज्यवाद के शिकंजे में"; में पाया जा सकेगा।)

सन् सैंतालीस में सत्ता हस्तांतरण के समय भारतीय शासक वर्गों को भारतीय अर्थव्यवस्था में मौजूद एक विदेशी सैक्टर जो कि भारतीय उद्योगों, बागानों, विदेशी–वाणिज्य, बैंकिंग और बीमा क्षेत्रों पर छाया हुआ था, विरासत में मिला। योजनाकारों ने इस विदेशी दमघोटूं पकड़ को तो खत्म करने की कोई कोशिश नहीं की बल्कि इसके उलट विदेशी पूँजी को फलने–फूलने और अपना जाल फैलाने के लिये हर तरह से प्रोत्साहित किया। हालांकि सत्ता हस्तांतरण से भी बहुत पहले जुलाई–1945 में ही 'आधुनिक भारत के निर्माता' नेहरू ने यह घोषित कर दिया था कि, "चूंकि नये राज्य की तेज तरक्की के लिये उसे पूँजी और प्रशिक्षित कार्मिकों की जरूरत होती है इसलिये कोई भी राष्ट्रवादी सरकार, निश्चित रूप से विकसित देशों खासकर अमरीका द्वारा पूँजीमालों और विशेषज्ञों को उपलब्ध कराये जाने के सहयोग का स्वागत करेगी।"[37] उनके ज्यादातर भाषणों और बयानों में यही एक राग हुआ करता था। कौन्स्टीट्युंट असेम्बली ऑफ इण्डिया (लेजिस्लेटिव) में नेहरू ने 16 अप्रेल 1949 को एक बयान दिया : "भारत द्वारा चाही गयी पूँजी ज़रूरतों को विदेशी पूँजी द्वारा ना सिर्फ इसलिये भी पूरा किये जाने की

ज़रूरत है क्योंकि जिस पैमाने पर हम अपने मुल्क की तेज़ रफ्तार तरक़्क़ी के लिये चाहते हैं उसके लिये हमारी राष्ट्रीय बचत नाकाफी होगी; बल्कि इसलिये भी कई मामलों में वैज्ञानिक, तकनीकी और औद्योगिक ज्ञान और पूँजी–औजारों (Capital Equipments) को विदेशी पूँजी के द्वारा सुनिश्चितता से हासिल किया जा सकता है। और जहाँ तक मौजूदा बाहरी–स्वार्थों का सवाल है, सरकार का उन पर ऐसे किन्हीं प्रतिबन्धों को लगाने या ऐसी किन्हीं शर्तों को थोपने का इरादा नहीं है जो कि ठीक इन्हीं के समान भारतीय कारोबारों–उद्यमों पर लागू नहीं हो और भारत सरकार की ऐसी कोई मंशा नहीं है कि वह हिन्दुस्तान में मौजूद ब्रितानी या गैर हिन्दुस्तानी मुफाद को किसी भी किस्म का कोई नुक़सान पहुँचाए; बल्कि वह तो इसके मार्फत भारतीय अर्थ व्यवस्था की प्रगति में रचनात्मक और सम्मिलित योगदान करने के लिये इनका बखुशी इस्तकबाल करेगी।"[38]

अपने पैदाइशी दौर से ही भारतीय योजनाएँ विदेशी ऋण–पूंजी और निवेश–पूंजी, तकनीक और तकनीकी "विशेषज्ञों" पर बेतरह निर्भर रही है।

पहली पाँचसाला योजना में लिखा गया है : "मौजूदा हालात में तीव्र–औद्योगिक विकास को पुख्ता करने के लिये, इसमें विदेशी पूँजी का खास योगदान रहेगा। इसलिये, विदेशी पूँजी के इस ओर आजादी से बहाव का इस्तकबाल किया जाना चाहिये क्योंकि इससे पूँजीमालों और तकनीकी जानकारियों की उपलब्धता सुनिश्चित होगी।" इसी योजना ने भारतीय और विदेशी उपक्रमों के बीच विदेशी पूँजी के साथ किसी भी किस्म का भेदभाव न बरतने के आश्वासन के साथ ही यह कहा: *"हमारे लिये विदेशी निवेशक को यह भरोसा दिलाया जाना सबसे ज्यादा अहमियत रखता है कि उसे काफी अच्छा मुनाफा होने की संभावना है और कि उसके साथ उचित और बराबरी का बर्ताव किया जाएगा" इसने उम्मीद जगा थी कि विदेशी पूँजी, घरेलू निवेशों में और भी ज्यादा संसाधनों को आकर्षित करने के लिये एक कैटेलिटिक ऐजन्ट के रूप में काम करेगी।"* इसकी मान्यता थी कि "संयुक्त उपक्रमों की पद्धति, जिसके तहत कुछ विदेशी कंसर्नों ने भारतीय उद्योगपतियों के साथ गठजोड़ में नये उद्योगों को स्थापित किया है, इक्विटि कैपिटल को सुनिश्चिततापूर्वक नियोजित करने के लिये उपयुक्त प्रतीत होती है।"[34]

तीसरी योजना से संबंधित प्लैनिंग कमिशन के एक दस्तावेज के मुताबिक: "आधार बन जाने तक, औद्योगिक विकास अधिकतम विदेशी विनिमय पर निर्भर रहता है जो कि जरूरी उद्योगों की स्थापना के लिये बाहर से हासिल हो रहा होता है। 'स्व–पोषित अर्थव्यवस्था' की ओर

विनिमय खर्च की भरपाई बस आंशिक ही होती है)..... पर गठजोड़ समझौते ऐसा आभास पर दिलाते हैं कि वे बगैर किसी तकलीफ के और फौरन ही भुगतान संतुलन के लिए जरूरी विदेशी विनिमय या इसके समतुल्य रूप में आयातित प्लान्टों और मशीनों के रूप में विदेशी विनिमय उपलब्ध कराते हैं (अब इसके बाद देश को चाहे जो कीमत चुकानी पड़े) और एक दुसरा नुक्ता जिससे *संयुक्त* उपक्रमों की स्वीकृति पर प्रतिबंध लगता है यह वो मंशा है जिसमें भारतीय उद्योगों पर जबरन विदेशी प्रबंधन और तकनीकी कौशलों का थोपा जाना।"[62] आमतौर पर ऐसे जोईंट वैंचर्ज का नियन्त्रण विदेशी साझीदार के हाथों में ही रहता है। "औद्योगिक लाईसेंस नीति" की जांच समिति ने दर्शाया कि, "विदेशी गठजोड़ों के साथ ही विदेशी इक्विटि की भागीदारी को स्वीकृति देने के नतीजों से न सिर्फ विदेशी साझीदार की दादागिरी बढ़ी है बल्कि विदेशी विनिमय संसाधनों का भी विदेशी की ओर छद्म रूपों में रिसाव हुआ है।"[63] वैंकट सुब्बैया ने अवलोकित किया कि किसी भी बहुराष्ट्रीय निगम के साथ गठजोड़ कायम करना भारतीय साझीदार के लिये एक "स्टैटस सिंबल बन गया है।"[64] सहयोग अगर सिर्फ तकनीकी भी हो तो भीं आमतौर पर इस उद्यम पर नियन्त्रण तो विदेशी साझीदार का ही रहता है। आधुनिक उद्योगों के अधिकांश बड़े और मंझौले आकार के उद्यम जिन्हें भारत के बड़े औद्योगिक घरानों का प्रोत्साहन प्राप्त है, उन्हें–वित्तीय एवम् तकनीकी दोनों ही या फिर सिर्फ विशुद्ध तकनीकी आधार पर किसी भी एक या अधिक बहुराष्ट्रीय निगमों के साथ गठजोड़ में स्थापित किया गया है। और यही सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों के लिये भी सच है।

विदेशी सहयोगियों के लिये लाभांश, लाभ, रोयल्टि, टेकनीकल फीसें आदि कई एक आकर्षक बिंदु हैं लेकिन वो आमतौर पर अपनी मशीनों, उनके कम्पोनेंट्स, अतिरिक्त पुर्जों, औद्योगिक कच्ची सामग्रियों और इसी तरह की तमाम दूसरी चीजों को अंतरराष्ट्रीय कीमतों से भी ऊँचे दामों पर लगातार बेचने के लिये इन संयुक्त उपक्रमों का इस्तेमाल सिर्फ एक बिक्री केंद्र के रूप में करता है।[65]

किसी भी ट्रांसनैशनल कंपनी की नीति अपनी मातृ–फर्म के नफों के लिहाज से ढ़लती है, न कि इसकी सब्सिडियरी या भारतीय साझीदार के साथ संयुक्त उपक्रम के मद्देनजर। इसका एक ही 'नेक' इरादा होता है– और वह होता है अपने नफों को ज्यादा से ज्यादा बढ़ाना और जैसा कि जोन मार्टिनुसेन ने लिखा, "कि यह एक ऐसी सुविधाजनक स्थिति में भी होती है कि यह सब्सिडियरी (इसके साथ ही संयुक्त उपक्रमों से भी) के संसाधनों को

भारी मात्रा में छद्म लाभों को भी संबंधित पितृ–देशों को भेजा होगा। ऐसा नहीं है कि भारतीय व्यापारी "बिलों की राशियों को छोटा–बड़ा करने और इनसे जुड़ी कलाओं से नावाकिफ हैं बल्कि इसके उलट उन्हें भी इसमें महारत हासिल है।" फिर भी भारतीय व्यापारी कुछ पिछड़े हुए हैं और कुछ कम सहूलियते पाते हैं, ऐसी कारस्तानियों को अंजाम देने में बकौल माईकैल किद्रौं चूंकि "इस किस्म की कारस्तानियों के उस मुकाम पर जहाँ सरकार के लिये उन्हें पकड़ना करीब–करीब नामुमकिन ही होता है। लिहाज़ा विदेशी फर्मों को ऐसी कारस्तानियों को करने में ज्यादा आसानियाँ हासिल होती हैं।"[58] तो इस तरह से मार्च 1993 तक इंगर सौल रैण्ड (इण्डिया) की पूँजी बढ़कर 31 करोड़ रूपये और परिसंपत्तियाँ हो गई 132.71 करोड़ रूपये और वर्ष 1992–93 में खालिस नफा कमाया 21.04 करोड़ रूपयों का। इसी तरह एक दूसरे ट्राँसनेशनल कॉर्पोरेशन की सब्सिडियरी–कोलगेट–पामोलिव (इंण्डिया) जिसका भूतकाल में कभी मूल निवेश धन रहा होगा करीब 6–7 लाख रूपया, इसने 1985 में 88 लाख रूपये, 1986 में 116 लाख रूपये, 1987 में 165 लाख रूपये और 1988 में 217 लाख रूपयों का लाभांश विदेशों को चुकाया।"[59] वर्ष 1994–95 के दौरान इसकी बिक्रियाँ थीं 681.46 करोड़ रूपयों की और जिस पर इसने शुद्ध लाभ कमाया 71.79 करोड़ रूपयों का।[60] आई. टी. सी. और हिंदुस्तान लीवर जैसी भीमकाय कंपनियों समेत इन सब्सिडियरिज के नफे सालहासाल ऊँची से ऊँची उड़ानें भरते जा रहे हैं। अगर किद्रौं का हवाला दें तो "इन कंपनियों के लिये दो या तीन सालों में ही अपनी मूल–पूँजी को 100 फीसद से भी ऊपर तक हासिल कर लेना बहुत ही आम बात है।"[61]

भारत में आमतौर पर मौजूद बड़ी और मंझौले किस्मों की औद्योगिक इकाइयाँ जिन्हें बहुराष्ट्रीय और भारतीय औद्योगिक घरानों द्वारा बहुत पसंद किया जाता है, असल में ये इन दोनों के बीच एक संयुक्त–उपक्रम जैसी हैं। यह एक ऐसी किस्म है जिसको भारतीय योजनाकारों द्वारा हमेशा बढ़ावा मिला है। जैसा कि हम पीछे देख आये हैं कि पहली पांच साला योजना का ये मानना था कि ऐसे संयुक्त उपक्रम "इक्विटी कैपिटल के सुरक्षित नियोजन के उपयुक्त हैं।" माइकैल किद्रौं लिखते हैं, "पचास के मध्य, खासकर 1957 से, सरकार ने नये उपक्रमों में साझे–सहयोगों पर जोर डाला। हिमालयनवार (1962 में भारत द्वारा चीन से लड़ाई) के बाद से यह मांग बराबर उठती रही थी कि किसी भी प्रोजिक्ट के सारे विदेशी–विनिमय की कीमत को विदेशी साझीदार से वसूल कर पूरा किया जाए। (लेकिन, व्यवहारतः, विदेशी

तीव्र–विकास के इस लिहाज से कि यह तकनीकी रूप से इतनी सक्षम हो कि यह अपनी जरूरत के पूँजीमालों और औजारों का निर्माण कर ले, इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये तीसरी योजना के विदेशी विनिमय घटक को बढ़ाया जाएगा और अधिक विदेशी सहायता की मांग की जाएगी।"[40]

विदेशी–निवेश का स्वागत करते हुए और भारत के "विकास" के लिये विदेशी वित्तीय ऋण पूँजी के आसरे रहते हुए भी भारतीय योजनाकार– 'आत्म–निर्भरता' और 'आत्मपोषित–वृद्धि' जैसे लक्ष्यों को प्राप्त करने की डींगें मारते रहे। कहना ना होगा कि उनकी आजादी का रास्ता विदेशी पूँजी पर निर्लज्ज निर्भरता के रास्ते से होकर गुजरता था। और इस किस्म की 'विकास' योजनाएँ साम्राज्यवादियों के हितों के लिये काबिले तारीफे ढंग से ठीक रही।

बेहतर होगा कि आगे बढ़ने से पहले हम यहाँ पर कुछ परिचय दे दें एक थे मैक्स–मिलिकन, (जो बदनाम सी. आई. ए. के एक भूतपूर्व उपनिदेशक रह चुके थे) और दूसरे थे प्रफेसर डब्ल्यु. डब्ल्यु. रौस्तो, जो कि कैनेडी दौर में यू. एस. स्टेट डिपार्टमेंट में योजना नीति विभाग के मुखिया बने थे। इन दोनों ने अपने साझे लेखन में एक किताब : *'असरदार विदेश नीति के मूल सिद्धांत : एक प्रस्ताव'* लिखी थी। इस किताब में उन्होंने वृद्धि के तीन दौरों का यों जिक्र किया था पहला, प्राक् दशा का दौर : दूसरा–शुरूआती दौर और तीसरा–स्वपोषित वृद्धि का दौर। उनके अनुसार भारत तब शुरूआती दौर से गुजर रहा था और "ऐसे वक्त में देश को अगर भारी अवरोधों से बचाना हो तो उसे काफी मात्रा में विदेशी पूँजी उपलब्ध करायी जानी चाहिये, और इस पूँजी का एक अंश निजी निवेशकों के अलावा निवेशकों के मार्फत मुहैया कराया जाना चाहिये।"[41] उन्होंने ऐसा किये जाने की ज़रूरत का खुलासा करते हुए कहा : "..... अधोविकसित क्षेत्रों के लिये निजी पूँजी के बहाव को ओवर टाईम के ढंग से तेजी से बढ़ाया जा सकता है..... चूंकि निजी पूँजी के उपक्रमों की सफलता की आम शर्तें होती हैं– फैलते हुए देशी बाजार, परिवहन और संचार सुविधाओं की उपलब्धता और इसी तरह की चीजें, इसलिये विकास के शुरूआती दौर में इनका, यानि निजी उपक्रमों का हिस्सा तयशुदा ढंग से कम ही होना चाहिये, जरूरी माहौल तैयार करने के लिये राजकीय ऋणों की जिम्मेदारी है कि ज्यों–ज्यों आधारभूत सुविधाओं में वृद्धि होती जाए वे त्यों–त्यों वे इस निजी निवेश के लिये रास्ते को चौड़ा करते जाएँ।"[42]

राजकीय ऋण ना सिर्फ जरूरी माहौल बनायेंगे और साम्राज्यवादी

देशों के निजी निवेश को बढ़ावा देंगे बल्कि इनसे इन देशों को यानि साम्राज्यवादी देशों को कुछ दूसरे फायदे भी होंगे। इससे खनिजों और दूसरे कच्चे मालों के संसाधनों का "जापान, पश्चिमी यूरोप और अमरीका के उद्योगों द्वारा वांछित सामग्री की आपूर्ति के लिये" और भी अधिक दोहन किया जा सकेगा। श्रम के अंतरराष्ट्रीयकरण को बढ़ावा दिया जाना चाहिये क्योंकि: "प्राप्तिकर्ता देश के राष्ट्रीय विकास कार्यक्रमों को फैलते हुए वैश्विक व्यापार और अंतरराष्ट्रीय श्रम विभाजन की जरूरतों में ढल जाना चाहिये।" "कि अधोविकसित देश, साम्राज्यवादी देशों के लिये फैलती हुई मण्डियों" और "फैलते हुए खाद्य एवम् कच्चे मालों के स्रोतों" के रूप में अपनी सेवाएँ देंगे।"[42a]

तो इस तरह से अमरीकी शासक वर्गों, अन्य साम्राज्यवादी देशों और भारतीय शासक वर्गों के हित आपस में एक ही बिंदु पर मिलान कर रहे थे।

मशीनों, उनके पुर्जों, स्पेअर पार्ट्ज, औद्योगिक कच्चे मालों तकनालोजी और अमीरों की अय्याशी के सामानों के लिये आवश्यक विदेशी विनिमय खर्चों के लिये प्लैनिंग कमिशन पूरी तरह से ताजातरीन विदेशी "सहायता" पर निर्भर रहा करता था और (तीसरी पांचसाला योजना) के कम से कम शुरूआती दो सालों के लिये तो पुनर्भुगतान दायित्वों की पूर्तियाँ तक नये विदेशी उधारों में से चुकायी जाती थी।"[43]

प्लैनिंग कमिशन ने तीसरी पाँच साला योजना की रूपरेखा के खाके में साफ तौर पर यह कुबूल किया गया था कि "तुलनात्मक रूप से शीघ्र स्वपोषित वृद्धि हासिल करने के प्रयासों के ही नतीजों में इस दर्मियान गुजरे वक्त में देश की निर्भरता विदेशी संसाधनों पर बढ़ गई है।"[44]

एक आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था के निर्माण के बारे में बार बार की गई घोषणाएँ, गुस्ताख–बेशर्म बातों के सिवा और कुछ भी नहीं हैं। साम्राज्यवादी देशों पर भारत की निर्भरता ज्यादा से ज्यादा बढ़ती ही गई हैं जैसा कि आर. के. हजारी और एस. डी. मेहता ने लिखा, *"अंतरराष्ट्रीय "सहायता" भारतीय विकास कार्यक्रमों की सारी कवायदों पर छाई हुई है.....बाहरी सहायता के असली महत्व को इस बात से समझना चाहिये कि देशी नीतियों के निर्धारण मे राष्ट्र की भीतरी ताकत का नहीं बल्कि बाहरी प्रभाव का इस्तेमाल हुआ है।"*[45] पचास के आखिर में जब एक घाघ अमरीकी प्रेक्षक सैलिग एस. हैरिसन ने यह कहा तो वो सही ही थे कि : "भारत की राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्था फैसलाकुन ढंग से बाहरी पूँजी पर टिकी है और जिस तरह के हालात आज हैं आईंदा भी यह लगातार बढ़ती ही चली जाएगी।"[46]

और अमरीका से प्राप्त होने वाली धरोहर प्राप्तियों (ए. डी. आर.) के जरिये भारत में 70,000 करोड़ रूपयों से ज्यादा का इक्विटी निवेश कर चुके हैं। और कि भारतीय साझीदारों, वित्तीय संस्थानों, बैंकों और भारतीय आम जनता द्वारा निर्मित की गई भारी भरकम पूँजी को विदेशी पूँजी के हित साधन के रूप में इस्तेमाल किया जाएगा और यह इसी विदेशी पूँजी के मातहत बना दी जाएगी जबकि इसी के साथ भारत में इस समय मौजूद कई औद्योगिक प्रतिष्ठानों को या तो जबरन बीमार करार कर दिया जाएगा या फिर उन्हें विदेशी पूँजी निगल जाएगी।

मेजबान देश के लिये विदेशी इक्विटी पूँजी "ऐड़" के मुकाबले कहीं ज्यादा महँगी साबित होती है। अव्वल तो इसलिये कि विदेशी पूँजी निवेशक सिर्फ उन्हीं औद्योगिक सैक्टरों में निवेश करेंगे जिनमें उन्हें काफी ऊँचे नफ़े मिलने की उम्मीद हो। असल में, वे जितना सींचते हैं, उससे कई गुना ज्यादा उलीच कर ले जाते हैं। दो ठोस उदाहरणों को ही लीजिये, इंगर सौल रैण्ड (इण्डिया), जो कि कभी अमरीका स्थित एक बहुराष्ट्रीय कंपनी की पूर्ण स्वामित्त्व वाली सब्सिडियरी थी, की शुरूआती हिस्सा पूँजी सिर्फ एक लाख रूपया थी, प्रति इक्विटी शेयर के लिए तीन के हिसाब से, जिसे बोनस शेयर ग्रांट के मार्फत बढ़ाकर चार लाख रूपया कर दिया गया। इसने अपने मूल शेयर धारकों यानि मातृ अमरीकी फर्म को, सिर्फ पिछले पाँच सालों के दौरान ही–यानि 1972, 1973, 1974, 1975 और 1976 में, इस कंपनी ने अपनी मातृ कंपनी को क्रमवार–150 फीसद, 750 फीसद, 100 फीसद, 750 फीसद और 1670 फीसद का डिविडेंड दिया। और इसी के साथ इसकी विदेशी शेयर होल्डिंग को घटाते हुए 74 फीसद तक करने के लिये सितम्बर 1977 में भारतीय निवेशकों के लिये, इसके इक्विटि शेयर खरीद सकने हेतु इन्हें जारी करने से ठीक पहले ही भारत सरकार और रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डियाकी रज़ामंदी से इस कंपन्नी ने अपनी मातृ कंपनी को चार इक्विटी शेयरों के 69 बोनस शेयरों के अनुपात में 69 लाख रूपयों का अनुदान अपनी मातृ कंपनी को दे दिया। इस तरह से, कंपनी की एक लाख की शुरूआती हिस्सा पूँजी उड़ान भरते हुए 1977 तक 73 लाख पर जा पहुँची–बगैर किसी निवेश के बावजूद जबकि इसी दौरान कंपनी 750 फीसद से लेकर किसी–किसी साल में तो 1,670 फीसद सालाना की दर जैसे ऊँचे लाभांश भी कमाती रही।[56] यहाँ यह बता देना मौजूँ होगा कि इस कंपनी के उत्पादों की खास खरीददार थी सरकार या फिर इसकी ही संस्थाएँ।[57] फिर इस बात की भी प्रबल संभावनाएँ हैं कि मातृ–कंपनी और इसकी सब्सिडियरी कंपनियों से माल आयातों में इंगर सौलरेण्ड (इण्डिया) ने ट्रांसफर प्राईसिंग की तरकीबों से

पहुँच रही है। इन "ऐड" एग्रीमेन्ट्स के तहत इन देशों से मशीनरी, पुर्जों आदि के भारी परिमाण आयात किए जाते हैं जबकि भारत हैवी इलैक्ट्रिकल्स या हैवी इंनियरिंग कॉर्पोरेशन जो कि अवाम की खून पसीने की कमाई को निचोड़कर और राष्ट्रघाती विदेशी सहायता से निर्मित किए जाते हैं को ऑर्डर न मिलने की वजह से ठप्प हो जाते हैं, उनकी मैन्युफैक्चरिंग क्षमता बहुत ही ज्यादा घट जाती है और मजदूरों को जबरन बेकार बैठ जाना पड़ता है।

"ऐड ना सिर्फ आर्थिक निर्भरता बल्कि राजनैतिक निर्भरता को भी पनपाती है।" लेकिन इस मुद्दे पर हम आगे चर्चा करेंगे।

'सहायता' एवम् व्यापारिक कर्जो के अलावा भी विदेशी पूँजी ने भारत में *प्रत्यक्ष एवम् पोर्टफोलिओ इंवेस्टमेंट* की शकल में घर कर लिया है। बकौल सुदीप चौधरी, "1970 के शुरूआत में विदेशी ब्रॉंच कम्पनियों और विदेश नियन्त्रित रूपिया कंपनियों (यानि भारत में मौजूद वो कंपनियाँ जिनमें विदेशी इक्विटी 25 फीसद या उससे भी ज्यादा होती है) का हिस्सा निजी कॉर्पोरेट सैल्स में करीब 30 फीसद और सारे कार्पोरेट सैक्टर में यह हिस्सा करीब 25 फीसद था। "विदेशियों द्वारा छद्म-ढंग से नियन्त्रित कम्पनियों (यानि बची कम्पनियाँ जिनमें विदेशी इक्विटी है)" का अनुमानित अंश 41 से 50 फीसद तक आंका गया है।[54] भारत में विदेशी पूँजी का प्रत्यक्ष निवेश अस्सी के दशक में ज्यादा तेजी से बढ़ा। लेकिन 1991 के बीच में यह बहाव और अधिक तेज़ हो गया था। *आर्थिक सर्वेक्षण 1994–95* के अनुसार 1991–92 और दिसम्बर–94 के दर्मियान ही प्रत्यक्ष विदेशी एवम् पोर्टफोलियो निवेश 8. 601 बिलियन डॉलर आंका गया था।

और तो और, भारत के राजकीय वित्तीय संस्थानों, बैंकों और भारतीय शेयर धारकों द्वारा संचित भारी–भरकम रकमें भी भारत में मौजूद लेकिन विदेशों से नियन्त्रित कम्पनियों को सौंप दी जाती हैं ताकि वे अपने विदेशी–वित्त को और ज़्यादा बढ़ा सकें और फैला सकें। मार्च 1975 तक मौजूद 50 सबसे बड़ी विदेशी सब्सिडियरी कंपनियों (भारत में स्थापित वे कंपनियाँ जिनमें विदेशी इक्विटी का अंश 50 फीसदी या इससे भी अधिक हो) के एक अध्ययन के अनुसार सभी विदेशी सब्सिडियरियों की सकल परिसंपत्तियों में इनका हिस्सा 82 फीसद था। कलकत्ता से प्रकाशित द स्टैट्समेन के 9 जनवरी 1997 के अंक में छपी एक रिपोर्ट के मुताबिक, भारतीय उद्योग परिसंघ द्वारा आयोजित एक प्रेस कांफ्रेंस में बोलते हुए इस संस्था के भूतपूर्व अध्यक्ष राजीव कौल ने कहा कि 1991 की मध्य जुलाई से अब तक विदेशी निवेशक, विदेशी संस्थागत निवेश (एफ. आई. आई.) प्रत्यक्ष विदेशी निवेशन (एफ. डी. आई.), विश्वव्यापी धरोहर प्राप्तियों (जी. डी. आर.)

छठी पंचवर्षीय योजना 1980–85 से यहाँ दुबारा छापी गई सारणी के अध्ययन से 1951–52 से लेकर 1978–79 तक की योजनाओं हेतु सकल एवम् शुद्ध "सहायता" प्राप्ति के सरकारी अनुमानों का खुलासा हो जाएगा :

सारणी

योजनावधियों में सकल एवम् शुद्ध सहायता - 47

क्रम संख्या	अवधि	बाहरी सहायता का उपयोग	ऋण भरपाई एवं ब्याज भुगतान	शुद्ध सहायता	योजना खर्च में से प्रयुक्त शुद्ध सहायता का प्रतिशत	योजना खर्च में से शुद्ध सहायता का प्रतिशत
1.	पहली योजना 51-52 से 55-56	201.7	23.8	177.9	9.1	4.9
2.	दूसरी योजना 56-57 से 60-61	1430.4	119.4	1311.0	28.1	26.9
3.	तीसरी योजना 61-62 से 65-66	2867.7	542.6	2325.1	27.2	37.5
4.	वार्षिक योजनाऐं 66-67 से 68-69	3229.6	982.5	2247.1	33.9	37.5
5.	चौथी योजना 69-70 से 73-74	4183.7	2445.0	1738.7	11.2	17.6
6.	पाँचवी योजना 74-75 से 78-79	7309.5	3770.4	3539.0	8.9*	12.8

* पहले चार सालों के लिये वास्तविक खर्च के आधार पर एवम् 1978-79 के अनुमानित खर्च पर।

पूर्वोक्त तालिका से योजनावधियों में हुए कुल योजना खर्चों में प्राप्त हुए "शुद्ध" सहायता के अनुमानित आँकड़े मिल जाते हैं : लेकिन हमारे दिलो–दिमाग में यह बात बिल्कुल साफ हो जानी चाहिये कि *साम्राजी मुल्कों और इन्हीं द्वारा नियंत्रित वित्तीय संस्थानों से मिलने वाला कज़ा वास्तविक "शुद्ध" सहायता से कहीं बढ़कर होता है चूंकि "शुद्ध" सहायता का अर्थ होता है वास्तविक कर्ज में से मूल राशि तथा ब्याज के भुगतान के बाद शेष बची राशि जो कि एकीकृत रूप से "शुद्ध" सहायता राशि से बड़ी भी हो सकती है। विश्व बैंक की विश्व ऋण तालिका 1991–92 से यही तथ्य सामने आता है।*

"(भारत में) अनिवासी भारतीय जमाकर्त्ताओं के अलावा राजकीय और निजी ऋणदाताओं द्वारा दिये गये *शुद्ध ऋण* वित्तीय वर्ष 1985 के 2.5 बिलयन अमेरीकी डॉलर से वित्तीय वर्ष 1991 में लगभग दुगने होकर 4.6 बिलयन अमेरीकी डॉलर हो गया है, जिसमें आर. एम. एफ. द्वारा दिया गया 1.8 बिलयन अमेरीकी डॉलर भी

शामिल हैं। लेकिन शुद्ध *जमा और निकास* (Net Transfers) में इसी अवधि में लगातार गिरावट दर्ज की गई है: वित्तीय वर्ष सन् 1985 में 1.7 बिलयन अमेरीकी डॉलर के शिखर से वित्तीय वर्ष 1991 में 0.5 बिलयन अमरिकी डॉलर।"[48]

इसके अलावा अनिवासी भारतीयों द्वारा भारत में निर्यातित धन देशी कर्ज के ही एक अंश का निर्माण करता है, 1991 में भारत ने कुल 4.6 बिलयन डॉलर कर्जा लिया मगर इसकी वास्तविक मात्रा 0.5 बिलयन डॉलर ही हासिल हुई, बाकी राशि मूलधन और उसके ब्याज के चुकतारे में ही खर्च कर दी गई।

विश्व ऋण तालिका 1993–94 के ही मुताबिक, 1991 में भारत ने कुल जमा 8.01 बिलयन डॉलर का कर्जा लिया था जिसमें से 3.32 तथा 3.30 बिलयन डॉलरों को क्रमशः मूल और उसका ब्याज भुगतान सेवाओं में ही खर्च कर देना पड़ा।

पुराने कर्जों को चुकाने के लिये भारत को नित नये कर्जे लेने पड़ते हैं, लेकिन भारत जितना ही ज्यादा चुकाता है उतना ही ज्यादा कर्जदार होता चला जाता है।

सन् 1980 और 1992 के दर्मियान गुजरे 12 सालों में भारत पर विदेशी कर्ज 20.58 मिलियन डॉलर से बढ़कर पाँच गुना हो गया (विश्व बैंक की विश्व ऋण तालिका 1993 के अनुसार 100 बिलयन डॉलर (80 बिलियन डॉलर के गैर रक्षा संबंधि और 20 बिलयन डॉलर के रक्षा संबंधी कर्जे) अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के आकलन के अनुसार, जिसे *बिजनिस स्टैण्डर्ड* में रिपोर्ट किया गया था। लेकिन अब तो परिशोधन (मूल कर्ज की भरपाई) और ब्याज भुगतान के दायित्व और भी विकराल हैं।

केंद्र सरकार के *आर्थिक सर्वेक्षण 1994–95* में उल्लिखित वित्तीय वर्ष 1994–95 के प्रथम अर्धक की समाप्ति तक भारत के सिर पर 90.45 बिलयन डॉलर विदेशी कर्जा था और कि ऋण भुगतान सेवाएँ वर्ष 1993–94 के 8.32 बिलयन डॉलर से बढ़कर 1995–96 में 13 बिलयन डॉलर हो गयी थी।(51) ऐसा प्रतीत होता है कि आर्थिक सर्वेक्षण में वर्ष 1994–95 में भारत द्वारा लिये गये अनुमानित सुरक्षा संबंधी ऋणों को ही शामिल किया गया है। जबकि असलियत में यह पहले बताये गये आई. एम. एफ. के अनुमान का आधा ही होता है। इस तरह से आर्थिक सर्वेक्षण में सारे विदेशी कर्जों का आँकड़ा तकरीबन 10 बिलयन डॉलर कम करके बताया गया है। (अब ये तो अजूबा ही है कि सरकार वक्त–बेवक्त जो विदेशी कर्जों के आँकड़े पेश करती है वो एक दूसरे से ही इतने अलग–अलग होते हैं कि आई. एम. एफ. और विश्व

बैंक जैसे अंतरराष्ट्रीय संगठनों के अनुमानित आँकड़ों से उन आँकड़ों के बेमेलपन का कहना ही क्या ?) असल में सरकार जो भी आँकड़े पेश करती है उनमें आँकड़ों की बाजीगरी के अलावा और कुछ भी नहीं होता है। साम्राज्यवादी जोंकों से कर्जा लेकर इन 'विकास'–योजनाओं ने तो भारत को वाकई गुलाम बना दिया है।

'ऐड' (Aid) की खसियतों का खुलासा जानने से पहले हमें यहाँ कुछ और भी जानने की जरूरत है। पहले तो ऐड–यानि कृपा, अनुग्रह, सहायता, इमदाद आदि इसके कई अर्थ हैं। अब परिभाषित–इमदाद एक ऐसा कर्जा होता है जिस पर कुछ रिआयतें मिलने की शर्तें भी लागू होती है। अब मूल बात। यह इमदाद अपने कर्जदार मुल्क से कई तरीकों से अपनी कीमत को वसूलती हैं और द्विपक्षीय 'सहायता' वो सहायता होती है जिसमें "सहायता" प्राप्त करने वाले देश पर दाता देश से केपिटल गुड्ज़ या फिर दीगर जरूरतों की चीजों को खरीदने की बाध्यता लागू होती है। फिर यह 'ऐड' भी दो किस्मों की होती है। अव्वल तो यह किसी भी एक मुल्क से जुड़ी होती है या फिर यह किसी भी खास "प्रोजिक्ट" से जुड़ी होती है। लेकिन आमतौर पर किसी खास देश के साथ ही साथ प्रोजिक्ट से भी बंधी होती हैं, सामराजी देशों के फायदों के रखवाले विश्व बैंक सरीखे अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं से मिली "ऐड" हमेशा "प्रोजिक्ट टाईड" होती है। ऐसे प्रोजिक्टस जिनके टेंडर अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर आमन्त्रित किए जाते हें और जिनकी मंजूरी से पहले बैंक की मंजूरी लेना जरूरी होता है। इसी मसले पर पी. एल्ड्रिज ने लिखा: "इमदादी समझौतों की प्रक्रिया से बहुत ही करीबी से जुड़े रहे एक भारतीय उच्चाधिकारी ने अपने एक बयान में एक अंदाजा पेश किया था कि भारत को मिलने वाली राष्ट्र आबद्ध एवम् प्रोजिक्ट–आबद्ध ऐड, मुक्त विदेशी विनिमय से हासिल हो सकने वाली सहायता के मुकाबले 60 फीसद से भी ज्यादा मंहगी पड़ती है।"[52]

अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन की एक रिपोर्ट का हवाला देते हुए जिनिवा से 28 फरवरी 1977 को प्रकाशित एक न्यूज आईटम का कथन है "पश्चिम से की जाने वाली खरीदों को अनवरत बनाये रखने के लिये डॉलर दाता देश हासिल करने वाले तीसरी दुनिया के देशों को दिये गये हरेक डॉलर के बदले में तीन डॉलर हासिल करता है।"[53]

यह "सहायता" ना सिर्फ भारत के आर्थिक सरप्लस को विकसित पूँजीवादी देशों की ओर बेतहाशा बहाव को बनाये रखने की जिम्मेवार वज़ह है बल्कि इससे भारत के अधो विकास में दूसरे कई और तरीकों से भी मदद

विपन्नता और साधनहीनता के भारी बोझे तले कराहते लोगों को इक ज़रा सी राहत दी जा सके। और इसी नफ़ीस तरकीब से, क्रांतिकारी संघर्षों को पैदा होने से पहले ही खत्म कर दिया जाता है और चूंकि अगर यह नहीं किया जाये तो फिर ये आंदोलन अपरिहार्य रूप से पैदा होंगे ही।

शुरूआती 'कंट्रोल' राज के आधार पर आज यह प्रचार किया जा रहा है कि– 'लाइसेंस–परमिट राज' समाजवादी था और कि इस नीति के अवसान के बाद, यानि शुरुआती राज की नीतियों के उलट अब एक नये मौलिक बदलाव की शुरुआत हो गयी है। पर यह सरासर झूठ है। असल में, लाइसेंसिंग पॉलिसी, कैपिटल इश्युज़ पर कंट्रोल, परमिट और कोटे– आदि तमाम नीतियाँ भारत राज्य ने सिर्फ इसलिये डिज़ाईन की थी ताकि बड़े बुर्जुआजी और उनके विदेशी साझीदारों के हितों को ठोस ढंग से आगे बढ़ाया जा सके और इन योजनाओं की ढोल धमाकेदार घोषणाओं में सिर्फ इन्हीं के हितों को सर्वाधिक प्रमुखता हासिल हुई है। और यहाँ तक कि सार्वजनिक या राष्ट्रीयकृत मैन्यूफैक्चरिंग और फाइनैंशल सैक्टरों तक को भी प्राइवेट सैक्टर के स्वार्थ साधन के लिये ही इस्तेमाल किया गया है।

आइये, अब जरा हम इस पर ख्याल करें कि ये लाइसेंसिंग सिस्टिम काम कैसे करता था। दिग्गज कारोबारी घरानों की यह आम परिपाटी थी कि वो हरेक उत्पाद के लिये कई–कई अर्जियाँ पेश करते थे। अगर ये सारी अर्जियाँ मंजूर कर ली जाती थी, तो इरादा यह नहीं होता था कि इन सबको लागू भी कर दिया जाता, बल्कि इन दिग्गज घरानों का इरादा यह होता था कि वे राज्य द्वारा और अधिक लाइसेंस देने की अधिकार क्षमताओं पर वक्त रहते; पहले सरकार चूँकि एक ही उत्पाद के लिये एक निश्चित संख्या में लाइसेंस देती थी और यदि ये सारे लाईसेंस विभिन्न अर्जियों पर एक ही प्रार्थी को मिल जाते हैं तो वह अन्यों को इस उत्पाद के उत्पादन से दूर रख सकता था, ही बंदिशें लगा दें ताकि दूसरे प्रतिस्पर्धियों या नये कारोबारियों को विभिन्न औद्योगिक सैक्टर्ज़ में घुसने से रोका जा सके। इस तथ्य को औद्योगिक लाइसेंस नीति जाँच कमेटी (दत्त कमेटी) की 1969 में प्रकाशित रिपोर्ट में देखा जा सकता है। जैसा कि आर. के. हजारी ने लिखा था, "और ऐसी हालत में, जबकि उत्पादों की बहुत–बहुत ज़्यादा किस्में हों, तब एक ही उत्पाद के लिए कई–कई अर्जियों से, लाइसेंस देने की क्षमता पर पहले से ही बंदिशें लगा देने का उपयोग लिया जाता है। यह सच्चाई, खास तौर पर बिड़ला घराने की अर्जियों के बारे में ज़ाहिर होती है।" हजारी इस तथ्य के लिये ठोस मिसालें भी पेश करते हैं : इनमें से एक हैं बिड़ला कंर्सन की

खुदाई और विकास के नतीजों से 1960 के आखिर तक तेल का आयात नगण्य हो गया और 1972 में तो चीन तेल का विशुद्ध निर्यातक देश बन गया।"[85]

सच्चाई तो ये है कि 'डू इट युअर सेल्फ' प्रोग्रेम का कोई विकल्प नहीं है। कोई मुकाबला नहीं है। इसके अलावा दुनिया में और कोई भी ऐसी चीज नहीं है जो एक तकनालोजिकली पिछड़े मुल्क को ऊँचा उठाकर उसे एक तकनालोजीकली उन्नत देश में रूपान्तरित कर दे। भारत और भारत जैसे देशों के अनुभवों से फैसलाकुन तौर पर यह साबित हो चुका है कि आम जनता को निचौड़ कर बटोरी गई दौलत के बदले में उधार की बहुराष्ट्रीय तकनालोजियों से वे कभी भी उस औद्योगिक क्रांति को सम्पन्न नहीं कर पायेंगे जो कि बरसों पहले पश्चिमी देशों में सम्पन्न हुई थी और जिसके लिये–भारतीय योजनाकार और नीति–निर्माता बड़े चाव से उम्मीदें लगाये बैठे थे और जो आज भी हमें यकीन दिलाना चाहते हैं कि उधार की तकनालोजी से ऐसा करना मुमकिन है। पर इसके उलट सच तो ये है कि विदेशी तकनालोजी से हमारी गुलामी बढ़ती ही है। और इससे पिछड़ेपन और अधोविकास के हालात बने रहते हैं। यह तो सिर्फ और सिर्फ उस देश का अवाम ही है जो कि इस काम को संरजाम दे सकता हैं और इस मिसाल की सच्चाई माओ के दौर में चीनी अनुभवों से साबित हो जाती है।

चीन ने तब एक नयी राह रौशन की थी –वो राह जिसने दुनिया के सबसे ज्यादा आबादी वाले मुल्क को यानि सारी दुनिया की करीब एक चौथाई आबादी वाले मुल्क को, गुलामी, पिछड़ेपन और औंधी तरक्की के सडांध मारते दलदल से, 30 से भी कम सालों में बाहर खींचकर उसे एक आजाद, आत्म–निर्भर और अवाम की चौफैर तरक्की हो सके, ऐसे मुकाम पर ला खड़ा किया।

जिस तरह से चीन अपने विभिन्न सेक्टर्ज में निवेश के लिये विदेशी पूँजी पर नहीं बल्कि खुद अपने ही संसाधनों के भरोसे रहा, उसी तर्ज पर उसने अपनी तकनालोजिकल जरूरतों को पूरा करने के लिये ज्यादातर अपनी ही जनता पर भरोसा किया। लेकिन उसने दूसरों से सीखने में कभी भी परहेज नहीं किया। उसने बहुत ही सीमित क्षेत्रों में उपयोग के लिये सोफिस्टीकैटिड टेक्नोलोजी को खरीदा भी, पर अपनी ही शर्तों पर और फिर उसे पचाया भी। अपनी ज़रूरत के मुताबिक उसमें रद्दो बदल किया और उसे अपने जरूरतों में ढाल लिया। लेकिन खास भरोसा उसने अपने ही अवाम पर किया। मजदूरों और किसानों में इस बात के लिये जोश और उमंग पैदा की गयी कि वे जिन उत्पादों और प्रक्रियाओं से जुड़े

हैं उनमें बदलाव और बेहतरी लाएँ, मैनेजरों, इंजिनियरों, तकनीशियनों, मजदूरों, साईंसदानों, पार्टी नेताओं–कार्यकर्त्ताओं और किसानों इन सब की सामूहिक टीमें बनायी गयीं ताकि हिलमिल कर उत्पादों और तकनालोजियों में नयापन लाया जा सके। चीन ने हमेशा अपने ही दो पाँवों पर सफर किया–एक पाँव था पूँजी सघन और श्रम सघन उद्योगों का तो दूसरा था आधुनिक और परंपरागत तकनालोजियों का। जहाँ आधुनिक तकनालोजियाँ हासिल नहीं हो पाई थीं वहाँ परंपरागत तकनालोजियों को अपनाया गया। हर उस चीज को जो कि फायदेमंद थी और लोगों की जरूरतों को पूरा कर सकती थी, काम में लिया गया। लेकिन परंपरागत तकनालोजियों को भी उनकी मौजूदा हालात में नहीं रहने दिया गया, बल्कि इसके बरखिलाफ, आधुनिक उद्योगों के तकनीशियन और कामगार, इन पिछड़े कारखानों में नयी विकसित प्रौद्योगिकी की जानकारियाँ देने के लिये गये ताकि उनका आधुनिकीकरण करते हुए, नयी यूनिटों की तामीर कर सकें। इसी तरह किसी भी एक इलाके में किसी भी किसान या कुछ किसानों के मार्फत खेती में की गयी नयी और बेहतर आजमाईशों को दूसरे इलाकों के किसानों के सामने प्रदर्शित किया गया ताकि वे भी इस नयेपन को सीख सकें। यहाँ पर भी साईंसदानों ने कंधे से कंधे मिलाकर काम किया। नयी विकसित तकनालोजियों को, जितना मुमकिन हो सकता था, उतना गहराई से पैबस्त किया गया और फैलाया गया। वर्ग संघर्ष की तर्ज पर ही, चीन में उत्पादन और वैज्ञानिक प्रयोगों के लिये संघर्षों को भी, एक महान क्रांतिकारी आंदोलन की तरह चलाया गया।

लेकिन इसके विपरीत और अपने वर्ग चरित्र के अनुरूप ही, हिंदुस्तानी हुक्मरानों और उनके योजनाकारों ने, अपनी सारी उम्मीदें विदेशी तकनालोजी और इस तकनालोजी के ही साकार रूप, विदेशी पूँजीमालों पर ही लगाये रखीं उन्होंने बहुत उम्मीदें संजोयी थीं कि भारत के आधुनिकीकरण के लिये ये चीजें एक उत्प्रेरक का काम करेंगी। बिलाशक, इस पोलीसी ने खुद उनको बहुत फायदा पहुँचाया है और साम्राज्यवादी पूँजी के टहलुओं की हैसियत रखने वाले इन वर्गों को फलने–फूलने का मौका मिला दिया है। लेकिन इन्होंने देश का सत्यानाश करते हुए उसकी गुलामी और औंधी–तरक्की को और भी ज्यादा चिंतनीय बना दिया है। और बाहरी तकनालोजी ने देशी तकनालोजी की बढ़वार का गला घोंट दिया और इस तरह से भारत की अर्थव्यवस्था को अपने काबू में रखने के लिये, साम्राज्यवादी ताकतें लोन पूँजी समेत पूँजी और तकनालोजी को एक नकेल की तरह इस्तेमाल करते हैं।

विदेशी तकनालोजी और विदेशी पूँजी के आसरे आधुनिकीकरण और आत्म–निर्भरता हासिल नहीं की जा सकती है। जैसा कि एक लेखक ने इसे ठीक ही प्रस्तुत किया है :

से उन्हें अधिकतम फायदे हासिल होते हों:, उनकी नज़र सिर्फ अपने ही फायदे पर रहती है। सिर्फ अपनी ही बढ़त और फैलाव में और इस तरह से बिलाशक, उनके हितों और समूचे समाज के हितों के बीच टकराव होता है। यह दावा किया गया था कि कैपिटल इश्युज़, नये उद्यमों पर नियन्त्रणों की पद्धति आजमाने से और मौजूदा उद्यमों के अधिक विस्तार के लिये, लाईसेंस देने और विदेशी विनिमय और आयात–निर्यात पर नियन्त्रण, मूल्य और भौतिक नियन्त्रण और निजी व्यापारियों के निवेश सम्बन्धी फैसलों को वांछित चैनलों के अनुरूप निर्देशित किया जा सकता है। इसे याद रखा जाना चाहिये कि राज्य द्वारा विभिन्न नियन्त्रणों से, यहाँ तक की राज्य द्वारा ढेरों उद्योगों पर राज्य के प्रबन्धन और स्वामित्व समेत के लिये, खुद दिग्गज उद्योगपतियों द्वारा ही पूर्व में बोम्बे प्लेन में प्रार्थना की गई थी। फिर मध्य चालीस के दशक में, सामराजी मालिकों द्वारा खिंचे गये योजनाओं के खाके में भी इस बात पर जोर डाला गया था। यह महसूस किया गया था कि ये कंट्रोल, लाईसेंस, राज्य हस्तक्षेप आदि खुद औद्योगिक महारथियों (टाईकुन्ज) के भले में ही रहेंगे।

जब निजी मुफाद ही उत्पादन की मूल प्रेरणा हो, तब सवाल ये पैदा होता है कि कौन किसको निर्देशित कर रहा है ? ऐसे समाज में, जिसमें उत्पादन के ज्यादातर साधनों पर एक छोटे से वर्ग की ही मिल्कियत हो, वहाँ पक्के तौर पर, बड़े सरमायेदारों, नीति निर्माताओं और प्रशासकों के बीच जरूर ही एक नजदीकी–नापाक गठजोड़ मौजूद रहता है। जैसा कि मार्क्स और एंगेल्स ने कहा है, कि एक पूंजीवादी देश में, सरकार, "सम्पूर्ण बुर्जुआजी के साझा मामलों को निपटाने वाली एक कमेटी के सिवा और कुछ भी नही होती है।"[6] लेकिन भारत में तो यह सरकार (कमेटी) एक ऐसी कमेटी के ढंग से काम करती है जिसमें बड़े दलाल बुर्जुआजी और इनके साम्राज्यवादी मालिकों के संग ही संग इसके देहाती कुलीनतन्त्र के साझा मामलों की भी देखभाल की जाती है। इसी नुक्ते पर हैरी ब्रैवरमेन ने भी लिखा है, "(पूँजीवाद के तहत) टैक्स लगाने, विदेशी व्यापार को संचालित करने, सार्वजनिक भूमि, व्यापार और सार्वजनिक/राजकीय प्रशासन को संभालने की जिम्मेदारियों को पूरा करने के लिये, राज्य अपनी शक्तियों का कानूनन और गैर कानूनी दोनों ही ढंग से उपयोग करते हुए, संपदा को सिर्फ कुछेक विशेष समूहों को पहुँचाने का ही काम करता है।"[7] राज्य के असली चरित्र को छिपाने के लिये और भ्रम पैदा करने की नीयत से, कोरे नाम के लिये कुछ कल्याणकारी कामों को हाथं में ले लिया जाता है ताकि अविश्वसनीय

सामाजिक और धार्मिक विभिन्नताओं के बावजूद हमारा राष्ट्र इन योजनाओं से मजबूत हुआ है। *इसने हमारे जनवाद को ठोस बनाया है और यह हमारे समाज को समाजवादी राह दिखा रहा है।*"[3]

छठी योजना की "भूमिका" में प्लैनिंग कमीशन के अध्यक्ष ने उल्लेखित किया कि "वृद्धि, गरीबी–उन्मूलन और आत्म–निर्भरता हासिल करना भारतीय योजना के यही मूल लक्ष्य हैं।"[4]

और बिलाशक, भारत में प्रजातंत्र की प्रगाढ़ता और समाजवाद का निर्माण करने की लच्छेदार बातें करने के मामले में तो इंदिरा गांधी से बेहतर कोई हो ही नहीं सकता था। इन लक्ष्यों को हासिल कर लेने के अलावा भी, उनके खाते में और भी बहुत सारी उपलब्धियाँ थीं, क्योंकि यही थीं वो जिन्होंने चंद साल पहले भारत पर इमरजैंसी थोपी थी, जिन्होंने जनतंत्र की कथित दिखावों तक का नाश कर डाला था; कई पार्टियों को गैर–कानूनी घोषित कर डाला था, प्रैस में छपने से पहले ही समाचारों पर सेंसरशिप थोप दी; असंतोष के हर स्वर का गला घोंट दिया; क्रांतिकारी हो या प्रतिक्रियावादी, हर रंग के असंतुष्टों को जेलों में ठूंस दिया, मेहनतकशों के आंदोलनों पर कहर बरपा कर दिया और फासीवादी आतंक का नंगा नाच शुरू कर दिया।

पहले ही हम इस पर ख्याल कर चुके हैं कि किस तरह से यह "तरक्की" भारत को समाजवाद की ओर ले जा रही है और कि किस तरह से "वृद्धि, गरीबी उन्मूलन और आत्मनिर्भरता की प्राप्ति" के लक्ष्यों को योजना अवधि के गुजरे 40 से ज्यादा सालों में हासिल किया गया है।

पॉल बाराँ का कथन था कि "ऐसे किसी भी समाज में, जहाँ उत्पादन के साधन निजी स्वार्थों के नियन्त्रण में रहते हैं, वहाँ वास्तव में योजना नाम के लायक कोई भी चीज़ मुमकिन नहीं हो सकती है क्योंकि इसे (अपनी सुरक्षा या अन्य निजी फायदों के लिहाज से) वे अपनी ही मिल्कियतों में होने वाले अधिकतम फायदों के मद्देनजर ही लागू करते हैं। संसाधनों का आवंटन और उनके उपयोग का पैटर्न; चूंकि यही आर्थिक विकास के लिये वास्तविक योजना की ज़रूरी शर्त होती है और जो कि दरहकीकत इसे अपरिहार्य भी बनाती है, अतः इसे लागू करना ही चाहिये यदि इसे अपने घोषित लक्ष्य की प्राप्ति करनी हो तो, ...और यह आवश्यक रूप से यथास्थिति में जारी पैटर्न से बिल्कुल ही जुदा होती है।"[5]

भारत में उत्पादन के ज्यादातर साधन– देशी और विदेशी, निजी स्वार्थों की मिल्कियत में हैं और वे सिर्फ उन्हीं क्षेत्रों में निवेश करते हैं जहां

"इस तरह के कर्जों की तकनालोजियों के साथ मेंढकों की तरह छलाँग का सिद्धांत, एक मिथक और एक छलावा है.....और विकास का मतलब तो आखिरकार स्व–वृद्धि–प्रक्रिया ही होता है। और इसका इंजन होता है समाज में उठा वो खमीर जो संस्थागत रूकावटों को तहस–नहस कर देता है और जो मुक्त कर देता है आम जनता की उस क्षमता को जो नयापन पैदा करती है। सामाजिक क्रांति के बगैर तकनालोजिकल इंकलाब नहीं लाया जा सकता है, कम से कम अब तक तो नहीं लाया जा सका है। विदेशी 'इमदाद' से कभी भी ऐसे कायाकल्प में मदद नहीं मिलती है बल्कि वो तो हमेशा इसमें सिर्फ रूकावट ही डालती है।"[86]

अस्सी की शुरूआत से ही भारतीय शासक वर्ग और उनके योजनाकार 'सुधारों' और 'उदारीकरण' के नाम पर साम्राज्यवादी पूँजी और तकनालोजी के लिये दरवाजों को धीरे–धीरे जितना खोलना मुमकिन हो, खोलते जा रहे हैं, 'उदारीकरण' की इस प्रक्रिया में, मध्य जुलाई 1991 में एक ऐसी हालत आ पहुँची थी कि भारतीय शासक वर्गों को आई. एम. एफ. और विश्व–बैंक को खुद उन्हीं के द्वारा वाशिंगटन में निर्धारित नीतियों को ही लागू करने का वचन देना पड़ा। मगर हाल ही में विकसित हुए घटनाक्रमों पर हम बाद में चर्चा करेंगे।

इस भाग का सारांश हम माईकेल टैंजर के लफ़्ज़ों में इस तरह करना चाहेंगे :

"विदेशी निवेश को आकर्षित करने में पूर्ण सफलता की कीमत होती है अधोविकसित देश की अर्थव्यवस्था पर बढ़ती हुई विदेशी प्रभुता; और–और चीजों के अलावा इसमें यह भी छिपा होता है कि यह एक ऐसी अर्थव्यवस्था होती है जिसकी बाहरी फैसलों पर निर्भरता दिनों–दिन बढ़ती जाती है.....और इससे भी ज्यादा यह कि स्वतंत्रता घटती जाती है अंतर्निहित अस्थिर विदेशी विनिमय की स्थिति के कारण जो कि पैदा होती है विदेशी निवेशकों के संभावित फायदों में तेजी और पूँजी के वापस मूल स्रोतों की ओर बहावों से.....और इसी मुकाम पर उस अधो–विकसित देश को सहायता के लिये बहुत प्रतीकात्मक रूप में मुड़ना पड़ता है अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की ओर, और यहीं पर आजादी के खात्मे की प्रक्रिया पूरी हो जाती है.....इस सबका बस यही एक मतलब है कि अर्थव्यवस्था के मुख्य क्षेत्रों के विकास के लिये निजी विदेशी पूँजी निवेश पर निर्भरता का नतीजा निकलता है एक महँगे सौदे में जिसमें एक देश अपने देश होने के जन्म–सिद्ध अधिकार को ही बेच डालता है।"[87]

⌘ ⌘

IV- 'विकास' योजनाएँ : पर किसकी कीमत पर ?

जैसा कि पोलिश अर्थशास्त्री माईकैल कालैकी ने ईशारा किया है, "यहाँ अहम सवाल ये पैदा होता है कि किन लोगों की कीमत पर देश का विकास (या अधोविकास) किया जाना है।"[1] क्यों कि आखिरकार यह राज्य का ही वर्ग–चरित्र होता है जो कि यह तय करता है कि देश का विकास होगा या फिर कुविकास होगा और यह भी कि किन वर्गों को इन योजनाओं का हर्जाना भुगतना होगा।

आगे के पन्नों में यह साफ हो जायेगा कि भारतीय योजनाओं से खासा फायदा उठाने वाले वर्ग हैं विदेशी और भारतीय बड़े बुर्जुआजी और भारतीय सामंत। लेकिन इन वर्गों का भारतीय योजनाओं में कुल योगदान भी इतना कम है कि गिनती तक में नहीं आता है। ये तो सिर्फ हिंदुस्तानी मेहनतकश अवाम–मजदूर और किसान (इनके ऊपरी हिस्से को छोड़कर) और पैटी–बुर्जुआज़ी हैं, जिनकी कीमत पर भारत में 'विकास' होता है। शासक वर्गों द्वारा योजनाओं के वित्त–पोषण का जबरिया बोझा इन्हीं वर्गों पर डाला गया है।

और वित्तीय संसाधनों के स्रोत हैं आंतरिक और बाहरी कर्जे (बाहरी कर्ज भारतीय योजनाओं की अंदरूनी बनावट है)। सरकार द्वारा अंदरूनी कर्जों की उगाही टैक्सेशन, डेफीसिट फाइनैन्सिंग (घाटे की वित्त–व्यवस्था) और ऋणों द्वारा की जाती है। बीते तमाम सालों में, जनता पर सीधी चोट करने वाले अप्रत्यक्ष करों में तेजी से बढ़ोतरी हुई है वहीं इंकमटैक्स, कॉर्पोरेट टैक्स, संपदा और उपहार करों जैसे प्रत्यक्ष करों में तेजी से गिरावट आयी है।

सातवीं पाँच साला योजना 1985–90 में भी इस बात को कुबूला गया है कि :

"उम्मीद की गयी थी कि आर्थिक विकास के साथ प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष करों में आनुपातिक बढोतरी होगी लेकिन प्रत्यक्ष करों में खराब प्रदर्शन के नतीजों से सरकार

ही एक और मेंबर तिरलोक सिंह, इसके उपसचिव थे। गुलजारी लाल नंदा, जिन्होंने 1946 में ऐटक (AITUC) को तोड़ते हुए भारतीय राष्ट्रीय ट्रैड यून्यन काँग्रेस (INTUC) को संगठित करने और इस तरह से मजदूर आंदोलन को तोड़ने में खासा रोल अदा किया था; उन्हें ही 1953 से 1956 के बीच योजना मंत्री बनाया गया। जैसा कि उम्मीद की जा सकती है, नंदा को बहुत ही करीब से जानने वाले जी.डी. बिड़ला ने इनके बारे में कहा था कि, "ऐसे हैं नंदा जी, जो कहते हें कि उनको उनकी माँ ने नहीं जनमा है, बल्कि जिसने उनको जनमा है वो है भगवावस्त्रधारिणी। आप जो चाहो मांगो, वो भेज देती है। अब चाहे ये मीठे रसगुल्ले हों या फिर हीरे या मोती; इसके लिये उन्हें कोई जहमत नहीं उठानी पड़ती है, बस आसमान की तरफ हाथ उठायें और वो सीधे आपके हाथों में ये वर थमा देती है।"[2] तो ऐसे महान शैखचिल्ली से ख्यालों वाले प्लैनिंग मिनिस्टर के मुताबिक तो समाजवादी योजना के लक्ष्यों को वाकई में हासिल करना बस चुटकी बजाने जितना ही आसान था।

ऐसे शानदार भारतीय योजनाकारों के साथ ही साथ, मिलिकन, रौस्तव, गालब्रैथ आदि की पूरी एक जमात पर भी भारत में समाजवादी समाज व्यवस्था को निर्मित करने के लिये प्लैनिंग करने की जिम्मेदारी सौंपी गयी।

लेकिन, साम्राज्यवादी और बिचौलिया पूँजी तथा भूस्वामी वर्ग के हितों की अनवरत सेवा करते हुए भी, ऊँचें मंचों से बार–बार इन समाजवादी लक्ष्यों की घोषणाएं की गई हैं। इन समाजवादी लक्ष्यों की घोषणा करते हुए, नेहरू और उनकी बहुत ही लायक बेटी इंदिरा, कभी भी थकते नहीं थे। छठी पाँच साला योजना 1980-85 में तत्कालीन प्रधानमंत्री और प्लैनिंग कमीशन की अध्यक्षा इंदिरा गांधी ने ज़ोर डालकर कहा था कि :

"भारत जैसे आकार और विभिन्नता वाले मुल्क में, तरक्की, जनता के सभी हिस्सों की हिस्सेदारी और उनकी पूरी सक्रियता पर निर्भर करती है। और यह सिर्फ एक जनतंत्र में ही मुमकिन है। हमारे हालात में, सार्थक अर्थों में जनतंत्र के होने की जरूरी शर्त ये है कि इसे समाजवाद का समर्थन हासिल हो जो कि आर्थिक न्याय का वादा करता है और धर्म निरपेक्षता, जिससे सामाजिक बराबरी मिलती है। तो यही है हमारी योजना का ढांचा।"

उन्होंने आगे जोड़ा–

"आज हम एक ऐसी मंजिल पर आ पहुँचे हैं कि जहाँ हम पूरे भरोसे के साथ और पूरा जोर देकर यह कह सकते हैं कि क्षेत्रीय, भाषायी,

VI-योजनाएँ : क्या ये इस नाम के भी लायक हैं ?

किसी भी आर्थिक नीति का लक्ष्य होता है अर्थव्यवस्था को अपने नियन्त्रण में रखना: और इन योजनाओं के कार्यान्वयन के लिये जिम्मेदार अमले से भी ये उम्मीद की जाती है कि उनमें इस जिम्मेदारी को कामयाबी से पूरा करने की तमन्ना भी हो और ताक़त भी।

भारतीय योजनाओं में लक्ष्यों के लिहाज से तो, ये योजनाएँ पवित्र और बहादुरी पूर्ण घोषणाओं से अटी पड़ी हैं। मार्च 1950 में, जब प्लैनिंग कमीशन की स्थापना की गई थी, तब यह घोषित किया गया था कि यह कमीशन, भारतीय संविधान में निहित राज्य के नीति निर्देशक तत्वों को ही अपने मूलभूत नीति निर्धारक तत्त्व के रूप में स्वीकारते हुए उनकी पालना करेगा जैसे–

"(क) सभी नागरिकों को, यानि सभी मर्दों और औरतों को बराबरी के साथ जिंदगी जीने के लिये जरूरी साधनों को हासिल करने का हक़ है।

(ख) कि समाज के संसाधनों पर अधिकार और उनका वितरण इस प्रकार से किया जायेगा कि जिसमें सार्वभौमिक एवम् अधिकतम साझा फायदा हो;

(ग) कि अर्थव्यवस्था के संचालन का नतीजा, अवाम की कीमत पर कुछ इस तरह न निकले कि संपत्ति और उत्पादन के साधनों पर बस कुछेक लोगों का ही कब्जा हो जाए।"[1]

दूसरी पाँच साला योजना जब अपनी तैयारी के मुकाम पर ही थी, तभी समाज को समाजवादी पैटर्न पर ढालने के इरादे की घोषणा की गई थी। लेकिन गौर करें कि भारतीय समाज को भविष्य के समाजवादी मोडल में ढालने की जिम्मेदारी किसे सौंपी गई थी ? ऐसे हाथों में जैसा कि हम पीछे उल्लेख कर आये हैं; जैसे– एक सीनियर आई. सी. एस. अधिकारी– सर वी. टी. कृष्णामाचारी, जो कि ब्रितानी राज के दौर में ऊँची प्रशासनिक कुर्सियाँ संभाल चुके थे, वे ही 1953 से 1960 की अवधि के दौरान प्लैनिंग कमीशन के उपाध्यक्ष थे। आई. सी. एस. के ही एक सदस्य और कैबिनेट के सचिव सर. एन. आर. पिल्लई, जों कि कमीशन के सचिव थे और आई. सी. एस. के

मजबूर होकर ज्यादा से ज्यादा अप्रत्यक्ष करों पर निर्भर हो गयी है। ये अप्रत्यक्ष कर 1975–76 में प्रचलित बाजार की कीमतों के आधार पर जी. डी. पी. के 11.7 फीसद से बढ़कर 1984–85 में 14.7 फीसद हो गये, जबकि इसी दर्मियान प्रत्यक्षकर 3.4 फीसद से गिरकर 2.3 फीसद हो गये।"

सातवीं योजना का ये भी साफ–साफ कहना है कि 1983–84 में प्रचलित उत्पादक मूल्यों (करेंट फेक्टर कोस्ट) के आधार पर गैर–कृषिगत सकल घरेलू उत्पादन में कॉर्पोरेशन टैक्स का फीसद 2.32, आयकर का फीसद 1.51, संपदा कर का फीसद 0.08 और दीगर प्रत्यक्ष करों का फीसदी 0.27 था।[2] लेकिन ये प्रतिशत आँकड़े और भी कम हो जाएँगे यदि इनमें कृषिगत देशी उत्पादों को भी जोड़ लिया जाये।

बजट अनुमान 1986–87 में केंद्र द्वारा संग्रहित संपूर्ण करों में अप्रत्यक्ष करों का हिस्सा 1950–51 के मुकाबले बढ़कर 81.1 फीसद हो गया था जबकि इसी दर्मियान प्रत्यक्ष कर 43.5 फीसद से फिसलकर 18.9 फीसद पर आ ठहरे।[3] केंद्र, राज्यों, संघिय प्रदेशों और स्थानीय निकायों द्वारा वर्ष 1990–91 में किये गये कुल टैक्स वसूलियों में प्रत्यक्ष करों का हिस्सा 15.9 फीसद था जबकि अप्रत्यक्ष करों का हिस्सा था 84.1 फीसद।[4] और तब से लेकर आज तक, आयकर और कॉर्पोरेट टैक्स, दोनों में ही और भी जयादा गिरावट आयी है।[5]

आठवीं योजना में यह साफ लिखा है :"वर्तमान में, व्यक्तिगत आयकर दाताओं की तकरीबन तादाद सिर्फ 40 लाख है, यानि जनसंख्या का सिर्फ 0.5 फीसद हिस्सा.....बीते सालों में, कृषि सैक्टर से जुड़े प्रत्यक्ष करों (जिनमें भूमी की लगान और कृषि आयकर शामिल होता है) का *कृषिगत* जी. डी. पी. से अनुपात 1950–51 के 1.2 फीसद से गिरकर 1989–90 में 0.07 फीसद से भी कम हो गया है।"[6]

हालाँकि आम उपभोक्ता वस्तुओं पर विभिन्न स्तरों पर लगातार टैक्स लगाया जाता है लेकिन आमदनी पर टैक्सों, लाभों और संपदा के मामलों में भारतीय टैक्स कानूनों में तमाम तरह की रियायतों, माफियों (छूटों) और चोर रस्तों की भरमार है। यहाँ पर हम कार्पोरेट टैक्स के बारे में ही थोड़ी सी चर्चा कर लें। अधिकांश नये उद्यमों (खासकर वो जो कि पिछड़े घोषित जिलों में स्थापित किये जाते हों और गौर तलब है कि ऐसे जिलों की तादाद आश्चर्यजनक रूप से भारी संख्या में है) को शुरूआती पाँच सालों तक बगैर कोई कॉर्पोरेट टैक्स चुकाये अपना काम करने की छूट दी गई है। 1995–96 के बजट में भी सभी इंफ्रास्ट्रक्चर प्रोजिक्टों (आधारभूत प्रोजेक्ट) के लिये

टैक्स–छुट्टी (टैक्स होलिडे) के लिये पाँच सालों की मोहलत देने की घोषणा की गई है। इंफ्रास्ट्रक्चर प्रोजिक्ट्स जिनमें ट्रांसपोर्ट, संचार, माईनिंग और पावर सैक्टर शामिल हैं, –के लिये जून 1995 में सरकार ने यह फैसला किया कि अप्रैल, 1995 के बाद आने वाले पहले बारह सालों की अवधि में किन्हीं भी पाँच सालों के लिये टैक्स–होलिडे की योजना लागू होगी।

अगर पाँच साल की अवधि के पूरा होने से पहले ही कोई नया उद्यम अपने विस्तार की योजना बना लेता है फिर तब तो और भी कई सालों तक कॉर्पोरेट टैक्स चुकाये बिना काम चल जाता है। और इन्हें 100 फीसद त्वरित अवमूल्यन जैसे अत्यधिक उदार अवमूल्यनों की इजाजत दी जाती है और फिर निर्यात जनित आय को टैक्सों से बिल्कुल बरी रखा जाता है। अंतरराष्ट्रीय निवेश और टैक्स समस्याओं के एक अमरीकी जानकार मैथ्यु जे. कस्ट ने चंदसालों पहले कहा था कि भारतीय टैक्स कानून "अत्यधिक उदार और त्वरित अवमूल्यन, जिसकी वजह से किसी नये उद्यम में शुरूआती तीन सालों में किये गये निवेश के 85 फीसद हिस्से को बट्टे खाते में डाला जा सकता है" की इजाजत देते हैं।[7] और भी कई तरह की रिआयतें और छूटें (कंशेशन एण्ड रिबैट्ज), जैसे कि विकास–बट्टा और अनुसंधान एवम् विकास खर्चों पर छूटें (दरअसल, सारे के सारे मामलों में यह सिर्फ एक मीठा लफ्ज है जो सिर्फ एक विदेशी तकनालोजी या उसकी क्वालिटी को भारतीय जरूरतों के लिहाज से ढालने के लिये लिया जाता है) आदि बहुत उदारतापूर्वक उपलब्ध करायी जाती हैं। महाराष्ट्र सरकार और दीगर संगठनों द्वारा 1997 के शुरूआती दिनों में आयोजित एक कंवेशन– "एडवॉन्टिज महाराष्ट्रा ग्लोबल इंवेस्टर्ज" में मुंबई के इंकमटैक्स कमिश्नर एस. एन. एल. अग्रवाल ने कहा था कि भारत की कराधान प्रणाली करदाता–मित्र है और कि दूसरे मुल्कों के बनिस्बत विदेशी कॉर्पोरैट्ज पर बहुत ही कम टैक्स लगाया जाता है। आगे जोड़ते हुए उन्होंने कहा कि "कई मामलों में तो 100 फीसद महसूली रिआयतें हासिल हैं–जैसे सीप्ज (SEEPZ) और दूसरे निर्यात आधारित प्रोजिक्टों के मामलों में।"[8]

इकनोमिक टाईम्ज में प्रकाशित एक आलेख में रहस्योद्घाटन किया गया था कि अब तक की भारत में सबसे बड़ी निजी कंपनी–रिलाईंस इण्डस्ट्रीज ने, जिसने वर्ष 1993–94 में 576 करोड़ रूपयों का खालिस नफा कमाया था, इन्हीं बट्टों, रियायतों और चोर रस्तों का फायदा उठाते हुए किसी भी तरह का कोई भी कॉर्पोरैट टैक्स (निगम–कर) नहीं चुकाया था। इसी साल में टिस्को, एसीसी, बोम्बे–डाईंग, अरविंद मिल्स ने भी भारी मुनाफे

जबरदस्ती घुसेड़ दिये जाने के नतीजों से, न सिर्फ भ्रष्टाचार की बढ़ोतरी और कानूनों को लाँघना ज्यादा आसान और कलाकारी भरा हो जाता है बल्कि इससे सत्ता के बेशर्म दुरुपयोग को भी बढ़ावा मिलता है।"[19] बेशक, यह लिखते वक्त, बाराँ ने मुश्किल से ही यह ख़याल किया होगा कि वर्तमान भारत के शासक वर्गों में भ्रष्टाचार, कानूनों के उल्लंघन और सत्ता का दुरुपयोग, आनुपातिक रूप से कितना भयानक हो गया है, मगर इसके बावजूद भी यह लगातार बढ़ता ही जा रहा है। इसका एक पहलू तो तभी रोशन हो गया था, जब जुलाई 1993 में, भारत सरकार के तत्कालीन गृह सचिव एन. एन. वोरा की अध्यक्षता में गठित एक कमेटी ने; अपराध सिंडिकेटों, सियासतदानों और अफसरशाहों के बीच कड़ियों की पड़ताल का एक पुलिंदा पेश किया था। इस कमेटी के मेंबरों में रिसर्च एण्ड अनेलसिस विंग (रॉ) के मुखिया, इंटैलिजेंस ब्यूरौ (आई. बी.) और सैंट्रल ब्यूरौ ऑफ इंवेस्टिगैशन (सी. बी. आई.) जैसी केन्द्रीय खुफिया ऐजन्सियों के डिरेक्टर्ज़ शामिल थे। यह रिपोर्ट, जो कि कुछ वक्त के लिये सरकार द्वारा दबा दी गई थी और आखिकार जिसे विपक्षी दलों के दबाव के आगे, एक अगस्त 1995 को संसद में पेश किया गया था और जिसके बारे में विपक्षी दलों ने यह घोषित किया था कि यह मूल रिपोर्ट का संक्षिप्त और सेंसरशुदा रूप है। इस रिपोर्ट ने यह दावा किया था कि अंतरराष्ट्रीय संबंधों वाले अपराध सिंडिकेटों और माफियाओं ने "सरकारी मशीनरी को हर स्तर पर भ्रष्ट कर दिया है।" और यहाँ तक कि सियासतदानों की पुश्तपोशी से कानून और कचहरियाँ भी बेईमान हो गयी हैं। रिपोर्ट के मुताबिक़, सरकारी लवाज़मे को पंगु बनाकर; माफिया असल में एक समानांतर सरकार चला रहे हैं। इसी रपट का ये बयान है कि कई सूबों में तो खुद सियासतदाँ ही इन ज़राएम–गिरोहों के लीडरान बन गये हैं और पिछले तमाम सालों में, खुद को जबरदस्ती चुनवा लेते हैं– स्थानीय निकायों, राज्य विधान सभाओं और संसद तक के लिये।[20] लगातार अखबारों में छपती, विकराल वित्तीय घोटालों की खबरें, जिसमें राज्य मशीनरी की चोटी पर बैठे लोग शामिल होते हैं, इस सबसे तो सिर्फ यही समझ में आता है कि खुद राज्य ही एक भयानक अपराध–सिंडिकेट (क्राईम सिंडिकेट) में तब्दील होता जा रहा है।

⌘⌘

आलोचना की जो कि कुपोषण की मौजूदा तस्वीर के लिये बढ़ती हुई आबादी को दोषी बताते हैं। उनके मुताबिक तो, कुपोषण की जिम्मेवार सिर्फ़ एक ही वज़ह है और वो वज़ह है खाद्य खरीदने के लिये पैसे की तंगी; न कि बढ़ती हुई आबादी। उन्होंने आगे कहा कि, "उन लोगों के लिये, जनसंख्या की वृद्धि की बात तो.....बस, महज़ एक बहाना है बच निकलने का, इसलिये कि वे इन सामाजिक–आर्थिक हालातों को खत्म करने और देहाती और शहरी नाबराबरी को मिटाने का या तो इरादा नहीं रखते हैं या फिर इसमें नाक़ाबिल हैं।[16]

सीमा सुरक्षा बल और आसाम के साथ ही उत्तरप्रदेश के भी भूतपूर्व पुलिस महानिदेशक, प्रकाशसिंह ने *इकनोमिक टाईम्ज़* में लिखा कि, "ऐसा अनुमान किया जाता है कि 1951 से 1990 की अवधि में, विभिन्न विकास प्रोज़िक्टों के नतीजों से, करीब 185 लाख लोग विस्थापित कर दिये गये, जिनमें आदिवासियों की तादाद भारी फीसद में है। इनमें से 139 लाख लोगों को, अब तक भी पुनर्वासित नहीं किया गया है।"[17] आज भी, ज्यादा से ज्यादा तादाद में, लोगों को अपने घरों और गांवों से उजाड़ा जा रहा है, सिर्फ इसलिये, ताकि बड़े बिचौलियों या साम्राज्यी तंजीमों के लिये कारखानों के लिए जमीनें मुहैया करायी जा सकें या फिर बिजली की पैदाईश के लिये बांधों की तामीर की जा सके। अपनी जड़ों से उखाड़े हुए, ये दसियों लाख लोग, खुद के बहुत सीमित संसाधनों के चलते या फिर मुआवज़ा ना मिलने की सूरतों के चलते–कुलियों की तरह काम करने या फिर अजनबी जगहों में भूखों मरने को मजबूर कर दिये गये हैं। अब तक लाखों–लाख लोगों को निगल चुकी है यह 'लोकशाही' योजना, लेकिन हालात की संगीनियत तो अभी भी बरक़रार है।

बिल आखिर, ये विकास या प्रगति है क्या बला ? इसी संदर्भ में, जैसा कि ऑक्सफोर्ड के एक अर्थशास्त्री, थौमस बैलफ ने कहा है, "उत्पादन क्षमता और उत्पादन में किसी भी तरह की वृद्धि को तब तक 'प्रगति' मानने में एतराज़ किया जायेगा, जब तक कि इसे इस पहलू से न सोचा जाए कि आखिरकार यह 'प्रगति' किसका कल्याण करेगी।"[18]

ऐसा लगता है कि सामराजी दौर की तुलना में, 1950 के बाद से ही ज़ारी, 'तरक्की' की इन योजनाओं ने आबादी की भारी तादाद की जिंदगियों में बमुश्किल ही कोई ख़ास बड़ा बदलाव पैदा किया है, मगर हाँ, इसने बहुतेरे फर्कों में से एक फ़र्क को तो ज़रूर ही पैदा किया है। बकौल पॉल ए. बाराँ, "पतनशील सामंती और पूँजीवादी व्यवस्था में घुट रहे समाज में, प्लैनिंग को

कमाये थे मगर इसी तरह से इनको भी किसी तरह का कोई कार्पोरैट टैक्स नहीं चुकाना पड़ा। भारत की अर्थव्यवस्था के निगरानी केंद्र (CMIE) ने वर्ष 1993–94 में 1,208 कंपनियों की इस संदर्भ में बानगी लेते हुए जाँच की तो पता चला कि उपरोक्त वर्ष में कम से कम 514 कंपनियों को कॉर्पोरैट टैक्स के रूप में एक फूटी कौड़ी भी नहीं चुकानी पड़ी। *इकनोमिक टाईम्ज* के इसी आलेख में उद्धरण है कि, "वर्ष 1993–94 के प्रथम अर्धक में कॉर्पोरैट सैक्टर द्वारा अपने सकल लाभ के अनुपात में चुकाया गया टैक्स 23.55 फीसद से वर्ष 1994–95 की इसी अवधि में घटकर 17.07 फीसद ही रह गया था।"[9]

भारतीय उद्योग परिसंघ (CII) द्वारा 16 मई 1995 को दिल्ली में आयोजित एक कार्यशाला को संबोधित करते हुए भारत सरकार के राजस्व सचिव ने कहा : "विचार जिस बात पर करना है वो टैक्स की दर पर नहीं बल्कि टैक्स–के–प्रभाव का है। यह गौर तलब है कि और देशों के मुकाबले हिंदुस्तान में कॉर्पोरैट टैक्स के मामलों में टैक्स का प्रभाव क्षेत्र बहुत ही सीमित है।" उन्होंने अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए कहा कि "चूँकि भारत में कई किस्मों की रियायतें दी गई हैं, इसलिये कॉर्पोरैट टैक्स की यह प्रभाविता सिर्फ 19.5 से 20 फीसद तक ही रहती है जबकि उन मुल्कों में भी जहाँ टैक्स की दरें कुछ ज्यादा ही कमतर हैं वहाँ भी टैक्स की यह प्रभावितता 30 से लेकर 40 फीसद जितनी ऊँची होती है।"[10] उन्होंने दुबारा छः दिसम्बर 1995 को कहा कि कॉर्पोरैट टैक्स की दर 46 फीसद है लेकिन ढेरों रियायतों और माफियों के चलते इसकी आखिरी दर सिर्फ 19.5 फीसद ही थी। आगे जोड़ते हुए उन्होंने कहा कि कॉर्पोरेट टैक्सों में 148 तरह की माफियां लागू थीं। और इनके बारे में ढेरों मुकदमें अब भी अदालतों में अटके पड़े थे।[11]

बड़े घरानों पर कॉर्पोरैट टैक्स की प्रभावितता के अनुमानों के बारे में जो कुछ सीवरामन ने कहा है हो सकता है यह कुछ ज्यादा ही बड़ा अनुमान हो, क्यों कि भारत की 300 शीर्ष कंपनीयों का सकल प्रभावी लाभ वर्ष 1991–92 और 1992–93 में क्रमशः 14,602 और 16,268 करोड़ रूपये रहा था। "लेकिन अवमूल्यन सुविधा 22.3 फीसद से बढ़कर 24.6 फीसद हो गई.... पर टैक्स जिम्मेवारियों में भारी कमी आयी और इसकी दर 13.1 फीसद से लुढ़ककर 9.0 फीसद पर पहुँच गयी, यानि यह दर 4 फीसद के आँकड़े से ज्यादा नीचे गिर पड़ी।"[12]

ये एक दिलचस्प बात है कि *तकरीबन 25 साल पहले अपनी पैदाइश से लेकर आज तक रिलाईंस इण्डस्ट्रिज़ ने कुछ भी कॉर्पोरैट टैक्स नही चुकाया है*–[13] नीचे ज़ीरो–टैक्स (शून्यकर) चुकाने वाली कुछ बड़ी कंपनियों

की फेहरिस्तें दी जा रही है, जिन्होंने वर्ष 1994–95 में खालिस नफा भी कमाया था–[14]

क्र. सं.	नाम-कम्पनी	शुद्ध-लाभ (करोड़ रूपयों में)
1.	स्टील ऑथोरिटी ऑफ इण्डिया	1108.57
2.	रिलाईंस इण्डस्ट्रीज़	1064.85
3.	स्टैट बैंक ऑफ इण्डिया	715.49
4.	एस्सार गुजरात	397.51
5.	नैशनल एल्युमिनियम	300.20
6.	टाटा कैमिकल्ज़	286.65
7.	टिस्को	264.19
8.	नागार्जुना फर्टिलाइजर्ज़ एण्ड कैमिकल्स	192.89
9.	ग्रैट ईस्टर्न शिपिंग	173.35
10.	सैन्चुरी टैक्सटाईल्ज़ एण्ड इण्डस्ट्रीज़	159.17
11.	चंबल फर्टिलाइजर्ज़ एण्ड कैमिकल्ज़	132.86
12.	बी. एस. ई. एस (BSES)	126.64
13.	गुजरात स्टैट फर्टिलाइजर्स	114.43
14.	गुजरात अंबुजा सिमेंट्ज	99.10
15.	जय प्रकाश इण्डस्ट्रीज	95.54
16.	मद्रास रिफाईनरिज	92.19
17.	गुजरात नर्मदा वैली फर्टिलाइजर्ज़	91.92
18.	एस्सार शिपिंग	90.69
19.	अरविंद मिल्ज़	90.64
20.	टैक्समैको	78.51
21.	हिंदुस्तान जिंक	76.44
22.	अशोक लिलैण्ड	70.59
23.	लॉईड्ज़ स्टील इण्डस्ट्रीज़	70.51
24.	सी. ई. एस. सी. (CESC)	68.50
25.	सदर्न पैट्रोकैमिकल इण्डस्ट्रीज	67.53

हरेक साल, 300 शीर्ष कंपनियों में ऐसी कंपनियों की भरमार रही है जो कि कोई भी टैक्स नहीं चुकाती हैं (अर्थात् जीरो टैक्स कंपनियाँ)। और भी दूसरी कई भीमकाय कंपनियाँ हैं जो केवल नगण्य टैक्स ही अदा करती हैं। मसलन, कनाडा स्थित एक ट्रासनैशनल कंपनी की एक सब्सिडियरी इण्डियन एल्युमिनियम कंपनी लिमिटेड (इण्डाल) ने 1993–94 और 1994–95 में क्रमशः 51.08 और 91.79 करोड़ रूपयों के खालिस नफे कमाये थे।

ये भी कहना है कि भारत में जनमें 63 फीसद बच्चे कुपोषण का शिकार हो जाते हैं।[12]

विश्व बैंक द्वारा 1993 में *स्वास्थ्य में निवेश* नाम से प्रकाशित एक रिर्पोट में, यह इशारा किया गया है कि मलिन–अस्वास्थ्यकर हालातों की मौजूदगी मामले में तो और कोई भी देश भारत के पासंग तक नहीं फटकता है। हमारी 85 फीसद से ज्यादा आबादी को किसी भी तरह की कोई भी स्वास्थ्यकर–सुविधा नहीं मिलती है।[13]

विकासमान देशों में वैश्विक आर्थिक संभावनाऐं नाम से विश्व बैंक की सालाना रपट, जो कि 15 अप्रेल 1994 को शाया की गई थी, में साफगोई से बयान किया गया था कि 1990 में, भारत में निरक्षरता की दर 52 फीसद थी।[14] ज्यादातर बच्चे, जो कि प्राईमरी स्कूलों में एडमिशन लेते हैं, जिनमें से ज्यादातर बच्चे अत्यधिक प्रभावग्रस्त होते हैं और जल्द ही स्कूल से पलायन कर जाते हैं। भारतीय इंजीनियरिंग उद्योगों के संघ, जिसका बदला हुआ नाम अब भारतीय औद्योगिक परिसंघ है; के द्वारा करवाये गये एक अध्ययन के अनुसार, शिक्षा के लिये केंद्रीय आवंटन, जो कि तीसरी योजना में 7.7 फीसद था; छठी योजना में 2.6 फीसद हो गया और केन्द्र सरकार के 1991-95 के खर्च में तो यह सिर्फ 2 फीसद ही था। फिर शिक्षा पर खर्च का 90 फीसद से ज्यादा हिस्सा तो वेतन–चुकाने में ही खर्च हो जाता है।[15]

सत्ताईस दिसम्बर 1982 को, जनसंख्या अध्ययन के भारतीय संघ का उद्घाटन करते हुए, भारतीय पोषण संस्था के अध्यक्ष एवम् भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसंधान परिषद् के भूतपूर्व अध्यक्ष डॉ. सी. गोपालन ने कहा कि *कुपोषण और अल्पपोषण के नतीजों से, भारत ज्यादा से ज्यादा तादाद में, मानसिक एवं शारीरिक रूप से निम्न मानक गुणों वाले नागरिक पैदा कर रहा है।* उनके अनुसार, 1983 में जो 230 लाख बच्चे जनमें, उनमें से सिर्फ 30 लाख बच्चे ही तंदरुस्त और उत्पादन क्षम नागरिक होंगे। और बाक़ी में से, 40 लाख बच्चे तो बचपन में ही मर जाऐंगे और बचे हुए 160 लाख बच्चे, अपनी नौनिहाली से ही गंभीर अल्प–पोषण के शिकार बनकर कमजोर बौद्धिक और शारीरिक क्षमता को झेलते हुए वयस्कता प्राप्त करेंगे।

उन्होंने जोर दिया कि मानव संसाधनों की ये बर्बादी, "हमारे मुल्क के लिये, किन्हीं भी बाहरी एजेन्सियों के हथियारबंद हमले के मुकाबले, कहीं ज्यादा ख़तरनाक चुनौती पेश करती है।" डॉ. गोपालन ने दावा किया था कि कुपोषण नाम की यह बला मुल्क से गायब ही हो जाती अगर देश में मौजूद सारा का सारा खाद्य वितरित कर दिया जाता। उन्होंने उन लोगों की तीखी

उनकी तादाद, कुल श्रम–शक्ति (वर्क फोर्स) की 35 फीसद के करीब हो सकती है।[9] असल में तो रोजगार की किसी भी वास्तविक परिभाषा को इस तथ्य पर आधारित होना चाहिये कि जो व्यक्ति रोजगार में लगा ..... है, उसे जिंदगी जीने के लिये ज़रूरी पारिश्रमिक मिल रहा है या नहीं; इस मापदण्ड के हिसाब से तो, वे तमाम लोग जो कि गरीबी की लकीर के नीचे हैं, यानि श्रम शक्ति (वर्क फोर्स) के 36 से 40 फीसद लोग या तो बेराजगार हैं या फिर अधोरोजगार–आंशिक रोजगार से ग्रसित हैं।

विशुद्ध आँकड़ों में भी, हर क्षेत्र में रोजगार घटा है, यहाँ तक कि जहाँ टेक्नोलॉजी बहुत अल्पविकसित है, उन क्षेत्रों में भी रोजगार कम हुआ है। स्थाई रोजगार को कम करने के लिये हर जगह एक ही तरक़ीब आजमाई जा रही है, और वो है ठेके, दिहाड़ी या अस्थायी श्रमिकों की नियुक्ति के ज़रिये; इस तरह से हर साल, दिहाड़ी मजदूरों की तादाद में पाँच से लेकर दस फीसद तक की बढ़ोतरी हो रही है और नतीज़न नियमित मंजदूर स्थानापन्न किये जा रहे हैं।[9]

एक काम चलाऊ सरकारी आँकड़े के मुताबिक, भारत में बाल–श्रमिकों की तादाद 700 लाख है। यह आँकड़ा, 1971 के 100 लाख और शुरुआती अस्सी के दशक के 180 लाख के आँकड़े से उछलकर इस मुक़ाम पर आ पहुँचा है।[10]

अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन (आई. एल. ओ.) द्वारा जारी विश्व श्रम रिपोर्ट 1993 में कहा गया था कि यों तो बेगार और गुलामी जैसी प्रथाएँ सारी दुनिया में हैं, लेकिन ख़ासकर हिंदुस्तान, पाकिस्तान और ब्राज़ील जैसे मुल्कों में इन रिवाजों के चलते बच्चों समेत लाखों लोग खतरनाक और जानवरों जैसी हालातों में काम करने पर मजबूर हैं। इसमें दावा किया गया है कि छद्म गुलामी के एक रूप–कर्ज़ बंधुआ प्रथा (हाली प्रथा) के मकड़ जाल में, दक्षिण एशिया और लाटिन अमरीका के दसियों लाख लोग फँसे हुए हैं। (*द स्टैट्समेन*, 3 अप्रेल, 1993)

विश्व बैंक की *विश्व विकास रिपोर्ट 1993* में यह अवलोकित किया गया है कि सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं में भारत ने बहुत ही कम निवेश किया है। और कि तुलनात्मक रूप से, भारत के अस्पतालों की रोगी शैया क्षमताएँ तो, सहारा क्षेत्र के अफ्रीकी देशों से भी कमतर हैं। भारत में जनमे हर 1000 बच्चों में से पाँच साल से कम उम्र में 126 बच्चे मौत का शिकार बन जाते हैं, जबकि यही आनुपातिक संख्या श्रीलंका में 21; स्वीडन में 5; जापान में 8; फ्राँस और ब्रिटेन में 9 और यू.एस.ए. में 11 है। इसी रिर्पोट का

लेकिन इन संबंधित सालों में इसके कॉर्पोरैट टैक्सों की देनदारियाँ क्रमवार सिर्फ 1.2 और 1.5 करोड़ रूपये ही थी।

ऐसी और भी कई कंपनियाँ हैं जो कई तरह की रियायतों का फायदा उठाकर कुछ भी कॉर्पोरैट टैक्स नहीं चुकाती हैं। इन कंपनियों के लेखा लाभों पर केंद्रीय बजट 1997–98 में 12.9 फीसद का न्यूनतम वैकल्पिक टैक्स (मेट) लगाया गया था। लेकिन निर्यात जनित फायदों में रिआयतों और आने वाले पाँच सालों के लिये, क्रेडिट–टैक्स के तंत्र के लिये इसमें पहले ही काफी रद्दो बदल कर दिया गया। इसके साथ ही साथ इस (1997–98 के केंद्रीय बजट) ने कॉर्पोरैट टैक्स को भी 25 फीसद तक घटा दिया और सरचार्ज (अधिभार) को तो खत्म ही कर डाला और फिर इसी के साथ, व्यक्तिगत आयकर में भी 33 फीसद की असरदार कटौती कर डाली गयी। प्राथमिक क्षेत्रों में किये जाने वाले निवेशों को तो कैपिटल–गैन्ज टैक्स से पहले ही बरी कर दिया गया था।

अब तक हमने अपने आप को सिर्फ कानूनी तौर पर दी जाने वाली रिआयतों की चर्चा करने तक ही सीमित रखा था। लेकिन यह ख्याल तो खुद ब खुद ही हमारे दिमाग में आ जाता है कि भारतीय व्यापारियों की इज्जत भी शक के दायरे में है क्योंकि उन्हें भी झूठी खाता–बहियाँ तैयार करने में महारत हासिल है। बरसों पहले फाईनेंस मिनिस्ट्री ने एक अनुमान लगाया था कि उद्योगों की जो विभिन्न शाखाएँ है।, उनमें जब टैक्स चुकाने की बात उठती थी तो नफों को सिर्फ एक तिहाई ही घोषित किया जाता रहा है।[15]

विभिन्न राज्य सरकारों के बीच, अपने राज्यों में भारतीय तथा विदेशी बड़ी कंपनियों के निवेशों को ललचाने के लिये भूमि, जल, बिजली और दीगर इफ्रांस्ट्रक्चरल सहूलियतों को कोरे नाम की कीमत पर देने के अलावा भी पूँजी में सब्सिडी, सेल्स टैक्स में रिआयतें आदि देने जैसी पेशकशों के साथ इन राज्य सरकारों में आपस में एक दूसरे के साथ गला काटू होड़ मची हुई है।

निर्यात बढ़ोतरी के लिये, भारतीय और विदेशी निर्यात घरानों को केंद्र सरकार द्वारा हर तरह के उत्साहवर्धनों की पेशकशों (इंसेंटिव्ज़) की व्यवस्था गई है। सन् 1992 तक मूलतः तीन तरह के इंसेंटिव थे। पहला–महसूल हटा लेना (ड्युटी ड्रा बैंक) : दूसरा –मुआवजों के लिये नकद बढ़ावा रकमें (कैश कंपेनसेटरी सपोर्ट) और तीसरा–आयात पुनःपूर्ति (इंपोर्टरिप्लेनिशमेंट)। अमरेश बागची का इस बारे में लिखना था कि छठी लोकसभा की पब्लिक अकाऊँट्स कमिटी के मार्फत नवम्बर 1977 में संसद में पेश की गई 10 वीं रिपोर्ट में यह दर्शाया गया था कि "मुमकिन है कि नकद सहायता योजना के हामी यह दलील दे सकते हैं

कि निर्यातों में लगातार बढ़त बनाये रखने के लिये दी जाने वाली यह रकम कोई ज्यादा बड़ी रकम नहीं है, चूँकि हमारी अर्थव्यवस्था के लिये यह बहुत ही जरूरी है। पर अगर निर्यातकों को दी जाने वाली दीगर रिआयतों और सहूलियतों जैसे–आयात पुनः पूर्ति, रेलवे में रिआयती माल–भाड़ा, रिआयती बैंक ऋण, सब्सिडी मूल्यों पर कच्चे मालों की उपलब्धता, अनुदान सहायता, अब अगर इन सबकी कीमतों को कूंता जाये और जोड़ा जाए तो ये आँकड़े यह सच्चाई उगल देंगे कि निर्यात प्रोत्साहनों के लिये चुकायी जा रही सकल कीमतें अतुलनीय ढंग से कहीं ज्यादा बड़ी हैं देश को हासिल होने वाली कुल विदेशी विनिमय राशि से ! यानि कथित जीवंत अर्थव्यवस्था के नाम पर किया जा रहा यह निर्यात प्रोत्साहन बहुत नकारात्मक है और यह नकारात्मक विनिमय संतुलन (B.O.P.) का भी कारण है।[16]

इसी ओर इशारा करते हुए अमरेश बागची ने कहा था कि, "पी ए सी ने कई मामलों में यह पाया कि रोकड़ सहायता की रकमें बहुत बेमेल थीं, ऐसे ही तीन मामलों में जहाँ शुद्ध विदेशी विनिमय अर्जित करना था, वहाँ इसी के अनुपात में दी गई नकद सहायता के भुगतान का फीसद–93 फीसद, 151 फीसद और 131 फीसद था।" यानि निर्यात प्रोत्साहनों के नाम पर, अर्जित विदेशी विनिमय से भी बहुत ज्यादा नकद सहायता दी गई। ऐसे ही एक मामले में "शुद्ध विदेशी विनिमय के रूप में अर्जित राशि पर तुलनात्मक रूप से दी गई नकद सहायता राशि 2875 फीसद जितनी ऊँची थी।"[17] यानि 100 डॉलर के शुद्ध विदेशी विनिमय अर्जन के बदले में "उस निर्यातक को" 2875 डॉलर की नकद–सहायता प्रदान की गई। कभी भारत सरकार के मुख्य आर्थिक सलाहकार रह चुके दीपक नय्यर का ये ख्याल था कि, "अगर कोई इंजिनियरिंग निर्यातों को दी जाने वाली 20 फीसद प्रत्यक्ष सब्सिडि के साथ अप्रत्यक्ष–लाभों को भी जोड़े तो इन निर्यातकों को दी गई सकल सब्सिडि का योग ही 100 फीसद जितना ऊँचा बैठेगा।"[18]

अप्रिल 1992 के बाद शुल्क–छूट–अधिकार–पत्र (DEEC) नाम की एक नयी योजना ने नकद मुआवजा सहयोग जैसी प्रत्यक्ष सब्सिडि योजना की जगह ले ली है। इस नयी योजना का निर्यात घरानों ने दुगुना स्वागत किया है। इससे कई निर्यातकों को कई ढंगों से अपनी रईसी बढ़ाने में मदद मिली है। इसकी किसी भी सुविधा से 'कन्साईनमेंट' को निर्यात किया जा सकता है और बड़ी आसानी से इसे ऐसे किसी समुद्रपारीय खरीददार को इंसकी असली कीमत से कई गुना ज्यादा कीमत पर "बेचा" जा सकता है। इस तरह से, छद्म ढंग से भेजा गया यह काला धन धुलकर सफेद धन के

अकादेमिशियनों की शकल में हुकुमत के अमीर तलवाचटोरों के एक वर्ग की पैदाइश भी की है और इनके फलने–फूलने में भी मदद पहुँचाई है।

यह तो उन्हीं दलालों और इनके विदेशी मालिकों, धनी भूस्वामियों और इन्हीं वर्गों के जीहुजूरियों का भारत है, जिसका विकास और समृद्धि हुई है; वरना दूसरा भारत तो, यानि मजदूरों, किसानों और पैटी बुर्जुआजी (सिवा इसकी ऊपरी परत के).....का भारत तो गुरबत और नाउम्मीदी की खाई में ही गिरा दिया गया है।

दिसम्बर 1993 को, सरकार ने राज्यसभा को ख़बर दी कि करीब 40 फीसदी हिंदुस्तानी गरीबी की लकीर के नीचे गुजर–बसर करते हैं।[5] और सरकार ने जो यह गरीबी की सीमा रेखा तय की है उसमें कुछ निश्चित मात्रा में कैलोरिज़ की उपलब्धता के अलावा, करीब–करीब दूसरी ऐसी कोई भी चीज शामिल नहीं की गई है, जो अगर उसे ना भी मिले तो भी उस आदमी की जिंदगी ख़तरे में नहीं पड़ती है। यानि की गरीबी की सीमा रेखा में सिर्फ भोजन की एक निश्चित मात्रा का मापदण्ड शामिल है, कपड़े–लत्ते, शिक्षा–चिकित्सा–मकान रोजगार की स्थिरता जैसा कोई भी मानदण्ड इसमें शामिल नहीं है जो कि मानवोचित "क्वालिटी लाईफ" के लिये जरूरी है। इसी के मद्देनज़र, ऑक्टोबर 1990 को, ऐसोसिएटिड चैंबर्ज़ ऑफ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्रीज के तत्कालीन अध्यक्ष, अविजित मजूमदार ने, मद्रास में खबर नवीसों से हुई एक मुलाकात में जब यह कहा तो वे सही ही थे कि : "यह कौन कहता है कि सारे हिंदुस्तानियों की सिर्फ 50 फीसदी तादाद ही गरीबी की लकीर के नीचे जिंदा है ? अगर आप इसमें गुणात्मक जीवन (क्वालिटी लाईफ) के लिये ज़रूरी न्यूनतम जरूरतों को भी शामिल कर लेंगे, तो फिर आपको पता चल जाएगा कि यह तादाद दरहक़ीकत 75 फीसदी है।"[6]

कैलकी का ये सवाल कि भारत में विकास या 'कुविकास' 'किन लोगों की कीमत पर' होता है, इसके जवाब में नीचे दी जा रही एक मिसाल से कुछ रोशनी पड़ेगी। विश्व संसाधन संस्थान द्वारा 1994 में जारी एक रपट का बयान था कि भारत में ऊँची आय वर्ग वाला हिस्सा, जो कि आबादी के सिर्फ 1.2 फीसद हिस्से का ही निर्माण करता है (यानी मोटे रूप में 1.2 करोड़ लोग-1999), लेकिन ठीक यही छोटा सा हिस्सा–विद्युत, पैट्रोलियम और मशीन आधारित घरेलू सामानों के 75 फीसद हिस्सों का उपभोग कर डालता है।[7]

रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया के एक अध्ययन में एक अंदाज बयानी की गई थी कि 1991 में, भारत में, 303 लाख लोग *बेरोजगार* थे। अर्थशास्त्रियों के मुताबिक़ ये लोग जो कि अधो–रोजगार या पार्ट–टाईम कार्यों में लगे हैं,

इस सब्सिडियरी (इसी दौरान इसका नया नामकरण हिंदुस्तान लीवर हो गया) की शेयर पूँजी थी 140 करोड़ रुपये और सकल उत्पादन था 3,240 करोड़ रुपये और टैक्स चुकाने के बाद लाभ था 189.96 करोड़ रुपये। भारत में, यूनीलीवर के साम्राज्य में हिंदुस्तान लीवर और ब्रुक बौण्ड लिप्टन इण्डिया लिमिटेड, टी एस्टेट्स इण्डिया, डुमडुमा टी, पौण्डज़ और इसी तरह की दूसरी कई कंपनियाँ शामिल हैं। इनमें से, ब्रुक बौण्ड लिप्टन इण्डिया का 1994 में टर्न ओवर था 1,839.46 करोड़ रुपये और शुद्ध लाभ था 99.11 करोड़ रुपये। हर गुज़िश्ता साल के साथ, दूसरे ट्रॉंसनैशनल्ज़ की तर्ज पर ही यूनिलीवर का भारतीय साम्राज्य भी फैलता जा रहा है। इसी तरह, इण्डिया टोबैको कम्पनी (जिसका नामकरण अब आई.टी.सी. कर दिया गया है) का उठाव और फैलाव, अगर इससे ज्यादा नहीं तो कम से कम इतना ही शानदार तो था ही। आज यह तीन या चार सबसे बड़े कॉर्पोरेशनों में से एक है। अब इसने, कई तरह के उद्योगों में भी और सेवा–क्षेत्र (सर्विस सैक्टर्) में भी अपना विविधिकरण कर डाला है। और इसके अलावा, इसने ढेर सारी कंपनियों को भी जनमा है, जो कि आज शानदार काम कर रही है।

एक भूतपूर्व केन्द्रीय मंत्री, के.वी. रघुनाथ रेड्डी ने इन निजी साम्राज्यों की चर्चा करते हुए कहा था कि भारत में निजी क्षेत्र की बात तो केवल एक मिथक है। निजी क्षेत्र वास्तव में सार्वजनिक क्षेत्र ही है, फर्क बस यह है कि इसे कुछेक निजी उद्योगपतियों द्वारा प्रबंधित किया जा रहा है। उनका कथन था कि 31 दिसम्बर 1982 तक, इस देश में 10,281 गैर–राजकीय पब्लिक लिमिटेड कंपनियाँ थीं; जिनकी पैड–अप–कैपिटल 3100 करोड़ रुपये थी। इनमें, सावर्जनिक वित्तीय संस्थानों ने 750 करोड़ रुपया इक्विटी शेयर के रूप में लगाया हुआ था, और इन कंपनियों के कर्ज़ों के मार्फत 9,000 करोड़ रुपयों से भी ज्यादा रुपया लगाया गया था। इसमें आगे जोड़ते हुए उन्होंने कहा कि इससे साफ़ ज़ाहिर होता था कि सिर्फ़ तीन से पंद्रह फीसद के बीच के मामूली से निवेश के ज़रिये यह प्राईवेट सैक्टर देश की अर्थव्यवस्था को नियंत्रित कर रहा है।[4]

जैसा कि हम पीछे रेखांकित कर आये हैं कि एक वर्ग, जो कि धनी जमींदार होने के साथ ही साथ व्यापारी और सूदखोर होने का रोल भी अदा करता है; इस वर्ग पर भी इस "लोकशाही" योजना पद्धति ने फायदों की भरपूर बौछारें की हैं। और, देश के कई हिस्सों में, यह वर्ग एक ताक़तवर वर्ग के रूप में उभर चुका है। इस 'लोकतांत्रिक' योजना ने बेईमान सियासतदानों, भ्रष्ट नौकरशाहों, ऊँची पहुँच के पेशेवर लोगों के समूह के साथ ही साथ

रूप में वापस लौट आता है। और इस तरह से कमायी गयी "निर्यात–आमदनियाँ" भी आयकर से मुक्त रहती हैं, इसके साथ ही, निर्यातक शुल्क–मुक्त कच्चे मालों का आयात करते हैं अपने निर्यात इकरार नामों के बदले में और इस तरह से देशी बाजार में पलक झपकते ही मोटी रकमें बटोर लेते हैं। खुद सरकारी तख़मीनों के मुताबिक ही, इस डी. ई. सी. सी. योजना के तहत ही 1994–95 में कुल 1700 करोड़ रूपयों की बर्बादी हो गयी। और इसके ज्यादातर हिस्सों की बर्बादी आयात–निर्यात इंसेंटिव की वजहों से ही हुई हैं। इस विषय पर चर्चाओं के लिये सीमा–शुल्क और केन्द्रीय उत्पाद शुल्क विभागों के कमिश्नरों और मुख्य कमिश्नरों के नई दिल्ली में मध्य नवम्बर, 1995 में हुए एक अखिल भारतीय सम्मेलन में हिस्सा लेने वाले एक सहभागी ने सम्मेलन के उपरांत *बिजनिस* स्टैण्डर्ड को बताया कि राजस्व हानियों और आयात जिम्मेवारियों के दुरूपयोग के वास्तविक आँकड़े तो और भी विकराल हैं, उन्होंने आगे दावा किया कि ऐसे आयात जो नॉन–कम्प्यूटराईज्ड बंदरगाहों के जरिये हुए हों और जिनके बदले में कुछ भी निर्यात नहीं किया गया हो, लेकिन वाणिज्य मंत्रालय तो ऐसे किन्हीं भी आयातों का जिक्र तक नहीं करता है। आम तौर पर, सौदे की कार्रवाही पूरी होने के बाद, ऐसे आयातों के तमाम रिकार्डों को नेस्तनाबूद कर दिया जाता है। उनके अनुमान के लिहाज से तो डी. ई. ई. ई. सी. (DEEC) योजना की वजह से हुई असल राजस्व हानियाँ 25,000 करोड़ रूपयों से भी ज्यादा होती है : वरिष्ठ राजस्व अधिकारियों के एक समूह द्वारा की गई एक अध्ययन परक रपट में रेखांकित किया गया कि डी. ई. ई. सी. का सबसे खुला दुरूपयोग धोखेभरी चालों से निर्यात जिम्मेवारियों को पूरा करते वक्त सीमा–शुल्क–मुक्त–आयातों को स्थानीय बाजारों में देने की चालाकियों से के जरिए किया जाता है। इस स्टडी ग्रुप ने यह भी इशारा किया था कि कई मामलों में तो निर्यात किया ही नहीं गया था। वाणिज्य मंत्रालय (मिनिस्ट्री ऑफ कॉमर्स) द्वारा निर्यातों के घोषित आँकड़े दरअसल फुलाये गये गुब्बारे होते है।, अध्ययन दल ने यह भी रेखांकित किया कि ऐसे कई मामले थे जिनमें निर्यात किये गये मालों का निर्माण जान–बूझ कर आयातित की गई घटिया प्राथमिक सामग्रियों से हुआ था। और आयकर से जुड़े पक्षों को भी जोड़ लिया जाए तो यह घाटा कई हजारों करोड़ रूपयों का हो जाएगा।[19] अखबारी रपटों के मुताबिक इस स्कीम के लागू होने के बाद से ही ऐसे जाली निर्यातों और तिकड़मी हवाला कारोबार की बाढ़ सी आ गई है। इन "बोगस एक्सपोर्टों" की वजह से ही शायद भारत के विदेशी विनिमय रिजर्व में गिरावट आयी है जो कि 1992 के बाद से ही वृद्धि दर्ज कर चुका था।

लेकिन इन "बोगस एक्सपोर्टों को न सिर्फ उच्चाधिकारियों द्वारा प्रोत्साहन मिलता है बल्कि इनकी हिफाजत के लिये डिरैक्टरैट ऑफ रैवेन्यु इंटैलिजेंस, सेंट्रल इकनोमिक इंटैलिजेंसब्यूरो, द इंफोर्समेंट डिरेक्टरैट, इंकम टैक्स (इंवेस्टिगैशन) और सी बी आई से इस बारे में सारी जाँचे रोकने और "निर्यातकों" को "परेशान करना" बंद करने जैसी अपीलें तक की गई हैं।[20]

बड़े और मंझौले बुर्जुआजी को दूसरी रियायतों और सब्सिडियों के अलावा भी हर किस्म के इंसेंटिव और महसूलों में राहतें दी जाती है और वो भी इस झूठी दलील के आधार पर कि इनसे बचत को बढ़ावा मिलेगा और निवेश को सक्रियता प्राप्त होगी। लेकिन सवाल ये है कि आखिर इस दलील में सच्चाई कितनी है ?

दरहकीकत यह तो जनता का ही धन है, जिससे निजी उद्यमों के अधिकांश वित्त–पोषणों की पूर्ति होती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये ही भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (IDBI), भारतीय औद्योगिक वित्त संघ (IFCI), राज्य वित्त–कॉर्पोरैशन जैसे सार्वजनिक वित्तीय संस्थानों के साथ इण्डिस्ट्रियल क्रैडिट एण्ड इंवेस्टमेंट कॉर्पोरैशन ऑफ इण्डिया (ICICI) जैसे संयुक्त उपक्रमों को स्थापित किया गया है ताकि वे निजी क्षेत्र में निवेश को प्रोत्साहित कर सकें। आई. डी. बी. आई द्वारा सहायता प्राप्त कंपनियों पर किये गये एक अध्ययन से यह तथ्य उभरा है कि बड़ी और मंझौली कंपनीयों की इक्विटि का 27.3 फीसद, प्रिफरेन्स शेयर्ज का 66 फीसद और डिबेन्चर्ज का 60 फीसद हिस्सा सार्वजनिक क्षेत्रों के वित्तीय संस्थाओं के ही अधिकार में था।[21] नई दिल्ली स्थित भारतीय लोक प्रशासन विभाग के कॉर्पोरेट स्टडी ग्रुप द्वारा इससे भी पहले किये गये एक अध्ययन में कहा कि गया था कि सार्वजनिक वित्तीय संस्थानों के पास टाटा इंजिनियरिंग एण्ड लोकोमोटिक कंपनी, इस्कोट्ज, किर्लोस्कर न्यूमैटिक और इसी तरह की दूसरी कंपनियों की इक्विटी का 50 फीसद से भी ज्यादा बड़ा भाग है। आमतौर पर जब भी कोई नया प्रोजिक्ट स्थापित किया जाता है-तो इसमें इक्विटी का अनुपात 3:1 या 4:1 होता है और विदेशी ऋणदाताओं को छोड़कर यह सारा का सारा कर्जा सार्वजनिक वित्तीय संस्थानों और सार्वजनिक बैंकों द्वारा ही उपलब्ध कराया जाता है। इस विश्लेषण ने इशारा किया था कि निजी कॉर्पोरैट सैक्टर में जो सात अगुवा घराने हैं, उनकी खुद की परिसपंत्तियाँ उनके खुद के द्वारा नियंत्रित कंपनियों की संपूर्ण परिसपंत्तियों के अनुपात में 1 फीसद से भी कम हैं– जैसे– टाटा–0.4 फीसद, मफतलाल–0.9 फीसद, बिड़ला–0.2 फीसद, श्रीराम–0.1 फीसद, सिंघानिया–0.7 फीसद, थापर–0.2 फीसद और

वास्तविक कीमतें वास्तव में बहुत ही कम कूँती गयी हैं। पहला तो यही कि इसको आँकते वक्त सिर्फ़ बड़ी पब्लिक लिमिटेड कंपनियों का ही ख़्याल किया गया और बाकि तमाम कंपनियाँ, जिनमें फाइनैंस और लिजिंग की कम्पनियों जैसी कम्पनियाँ शामिल हैं, उन्हें बिल्कुल छोड़ दियागया है या दूसरा, ये कि इसमें सिर्फ लेखा मूल्य (बुक वैल्यु) को ही ध्यान में रखा गया है, लेकिन यह खाता मूल्य (बुक वैल्यु) उस असल कीमत को नहीं दिखलाता है जो कि कहीं ज्यादा ऊँची होती है। तिस पर, सरकार कीमतों में ऊंची गिरावट (अवमूल्यन) की भी इज़ाजत देती है, जिससे प्लान्ट और मशीनरी की कीमतें पाँच–छह सालों में बस कोरे नाम की ही रह जाती हैं। इससे भी ज्यादा ये कि सरकार द्वारा इन्हें विशाल भूमि खण्ड और कई किस्मों की रिआयतें भी लुटायी जाती हैं। सच्चाई तो यही है कि ज्यादातर मामलों में, इन परिसंपत्तियों का बाजार भाव काफी ऊँचा ही होगा।

अंबानी घराने की तरक्की और फैलाव पर और भी ज्यादा ताज्जुब होगा। उनका अलमबर्दार–रिलाईंस इण्डस्ट्रीज लिमिटेड़, जो कि आज हिन्दुस्तान के मौजूदा दौर की सबसे बड़ी प्राइवेट सैक्टर कंपनी है; को इसके संस्थापक धीरूभाई अंबानी ने 1950 में सिर्फ 28 लाख के मामूली से निवेश से रिलाईंस कॉमर्शल कार्पोरेशन के नाम से एक छोटी सी एक्सपोर्ट फर्म के रूप में खोला था। लेकिन 'विकास' योजनाओं की दोस्ताना भरी शर्तों और सरकारी मशीनरी और बहुराष्ट्रीय कंपनियों की चोटी पर बैठे रखवालों की मदद के बलबूते, रिलाईंस इण्डस्ट्रीज की सकल आय बढ़कर 1994-95 में 7,091 करोड़ रुपये और ख़ालिस नफ़ा हो गया 1,065 करोड़ रुपये। और सकल आधार परिसंपत्तियाँ हो गईं 11,529 करोड़ रुपये की और जिनकी खालिस कीमत थी 7,193 करोड़ रुपये। फिर अंबानी घराना दूसरी और भी कई कंपनियों को भी नियंत्रित करता है। अंबानी साम्राज्य, टैक्सटाईल्ज़, पैट्रोकेमिकल्ज़, ऑईल एण्ड गैस, दूरसंचार, विद्युत ऊर्जा, एडवर्टाईजिंग आदि क्षेत्रों में भी पसरा हुआ है। रिलाईंस इण्डस्ट्रीज़ में, एफ.आई.आई. द्वारा शेयरों का निवेश कम से कम 1,100 करोड़ रुपयों में आंका जाता है *(इ. टी., 24 फरवरी, 1997)*। और इसी समूह ने, 2.5 बिलयन डॉलर के पूँजी निवेश को समुद्र पार से भी उगाहा है *(इ. टी., 30 मई और 25 जुलाई 1997)*।

आइये, अब एक ट्राँसनैशनल–सब्सिडियरी–हिंदुस्तान लीवर–का मामला लेते हैं। सन् 1933 में, एक ऐंग्लो–डच बहुराष्ट्रीय कम्पनी–यूनीलीवर ने, सिर्फ एक लाख रुपये पैड–अप–कैपिटल से, अपने पूर्णाधिकार वाली सब्सिडियरी को लीवर ब्रदर्ज़ (इण्डिया) नाम से स्थापित किया था। लेकिन सन् 1994 में,

V- 'विकास' योजनाऐं : किसके विकास के लिये ?

भारत की इस "लोकतांत्रिक प्लैनिंग" ने, न केवल बड़े बुर्जुआज़ी बल्कि विदेश आधारित बहुराष्ट्रीय कंपनियों की ब्राँचों, सब्सिडियरियों और इन्हीं के द्वारा नियंत्रित अन्य कंपनियों की अपूर्व वृद्धि और फैलाव करने में मदद पहुँचाई है। मगर यहाँ पर हम इसकी सिर्फ कुछेक नजीरें ही पेश करेंगे।

सन् 1948 में टाटा घराने की संपूर्ण परिसंपत्तियाँ 67 करोड़ रुपये थी।[1] और भारत में दूसरे नम्बर के सबसे बड़े कारोबारी घराने–बिड़ला घराने के पास, साल 1947 में, इनके द्वारा नियंत्रित कंपनियों में कुल पैडअपकैपिटल* (Paid up Capital) 21.85 करोड़ रुपये थी।[2] मगर 1993-94 तक, टाटा ग्रुप के मार्फत संभाले जाने वाली कंपनी की परिसंपत्तियाँ बुलन्द परवाज़ी करते हुए 22,750 करोड़ की ऊँचाई को छू गई। मगर ठीक इन्हीं सालों में, बिड़ला घराना कई खेमों में बँट गया। तो भी, वर्ष 1993-94 में, इन विभिन्न समूहों की कंपनियों की परिसंपत्तियों की गणना कुछ इस तरह से थी– ए.वी. बिड़ला समूह – 10,758 करोड़ रुपये; एल.एन.एस. बिड़ला समूह– 1,832 करोड़ रुपये; जी.पी.–सी.के. बिड़ला समूह– 1,639 करोड़ रुपये।[3] फिर के.के. बिड़ला ग्रुप जैसे कुछ दूसरे बिड़ला घराने भी हैं, जिन्हें भी हिन्दुस्तान के बड़े कारोबारी घरानों में गिना जाता है। (बिजनिस टुडै, 22 अगस्त 1997 के एक सर्वे के अनुसार, 1947 में टाटा ग्रुप की परिसंपत्तियाँ 62 करोड़ रुपये थी जो कि 1997 में बढ़कर 37,511 करोड़ रुपये हो गयी। हालाँकि इस सर्वे ने 1947 में बिड़ला घराने की कुल परिसंपत्तियों को सिर्फ 5 करोड़ रुपये ही ठहराया था, मगर इस मूल घराने के टुकड़ो में बँट जाने के बाद, इसके विभिन्न ग्रुपों की 1997 में परिसंपत्तियाँ, क्रमवार ढंग से, सर्वे में कुछ इस तरह से पेश की गयी थीं– बी.के. के.एम. बिड़ला : 19,498 करोड़ रुपये; जी.पी. –सी.के. बिड़ला : 2,530 करोड़ रुपये; के.के. बिड़ला : 3,095 करोड़ रुपये; पी. बिड़ला : 1,237 करोड़ रुपये; एस.के. बिड़ला : 2,080 करोड़ रुपये। पर यहाँ हमें इस बात को समझने की ज़रूरत है कि इन परिसंपत्तियों की

के. पी. गोयनका घराना–0.3 फीसद।(21 ए) किसी भी प्रोजिक्ट के लिये वर्किंग कैपिटल आमतौर पर सार्वजनिक क्षेत्र के व्यापारिक बैंकों के मार्फत ही मुहैया करायी जाती है।

हमेशा ही यह होता है कि कोई भी बड़ा औद्योगिक घराना किसी भी बड़े औद्योगिक प्रोजिक्ट की स्थापना में लगे खर्चों का आंशिक खर्चा ही वहन करता है। और आमतौर पर होता ये है कि खुद इस प्रोजिक्ट के स्थापना की अवधि में ही यह घराना इस पर किये गये खर्चे को वापस हासिल कर लेता है : चूंकि बकौल एस. के. गोयल, "किसी प्रोजिक्ट की स्थापना में ज्यादातर खर्चा मशीनरी और तामीरी कामों में होता है और बिलाशक, नये प्रोजिक्ट के काम को इस घराने की सहोदर कंपनियाँ ही संरजाम देती हैं, और यह सारी दुनिया जानती है कि हरेक प्रोजिक्ट की कार्यान्विति में ठेकेदार फर्मों को असली लागतों के 10 या इससे भी ज्यादा फीसद फायदों की कमाई होती है। इस तरह से, भारत के औद्योगिक जगत के बारे में यह एक सच्चाई है कि किसी भी प्रोजिक्ट के ऑपरैशन में जाने से पहले ही इस प्रोजिक्ट के प्रमोटर्ज़ किसी ना किसी ढंग से इसकी स्थापना–अवधि में ही अपनी तमाम लागतों को वसूल कर लेते हैं।"[22]

फिर भारतीय व्यौपारी फौरन ही नफा कमाने की फिराक में ज्यादा रहते हैं। और इसी वजह से वे एक ऐसी समानांतर अर्थव्यवस्था चलाते हैं जो कि टैक्सों से बची रहती हैं। प्लैनिंग कमिशन के एक तख़मीने के मुताबिक–1989–90 के मूल्यों के आधार पर ही देश में तीन लाख करोड़ रूपयों का काला धन है। बहुत ही संतुलित आकलन करें, तो भी इस पैरेलल–इकोनोमी में हर साल कोई 50000 करोड़ रूपयों का और इजाफा हो जाता है।[23] संसद की वित्त संबंधी मामलों की स्थायी समिति के सदस्य सुरिंदर के. सिंह ने भी *इकनोमिक टाईम्ज* को बताया था कि कमेटी के पास उपलब्ध सूचना यह दिखाती है कि स्थिर कीमतों पर भी गैर हिसाबी धन करीब तीन लाख करोड़ रूपयों का है[24] और फिर इस काले धन को, शीघ्र होने वाले सट्टा लाभों के दृष्टिकोण से रिअल एस्टेटों, शेयर बाजारों आदि में लगाया जाता है।

हमारे व्यापारियों को ये आदत सी है कि वे अपने फायदों के काफी बड़े हिस्सों को गैर–कानूनी ढ़ंग से विदेशी बैंकों में अपने खातों या फिर उन करहीन–स्वर्गों..... जहाँ टैक्स नहीं लगते हैं, वहाँ सुरक्षित ढंग से छिपा देते हैं। ये गैर–कानूनी लेन–देन, जिसे हवाला व्यापार कहते हैं, आमतौर पर आयातों के अधिमूल्यनों (और निर्यातों के अधो–मूल्यनों) की तरकीबों के

जरिये सरंजाम दिये जाते हैं। रयूटर में 3 दिसम्बर 1992 को छपी एक खबर के मुताबिक सी बी आई निदेशक ने रयुटर्ज को बताया कि भारत से बाहर जाने वाला अधिकांश धन गैर–कानूनी ढंग से जमा करवा दिया जाता है "उन विदेशी बैंकों में जो कि अपनी गोपनीयता की विशेषता की बदौलत ही फलते–फूलते हैं या फिर दुनिया भर के कर रहित स्वर्गों में फलते–फूलते हैं।" रिपोर्ट के मुताबिक :"कुछ सरकारी आकलनों के मुताबिक गैर कानूनी ढंग से पारगमन करने वाले भारत के इस नुकसान को 5.5 एवम् 7.5 बिलयन डॉलर वार्षिक के बीच में रखा जा सकता है।"[25] तीन अमरीकी अर्थशास्त्रियों (फाइनैंस इण्डिया, सितम्बर 1995 में जे. एस. ज्दानोविक्क्ज़, डब्ल्यु. डब्ल्यु. वैल्श और एस. जे. पाक. के आलेख "अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में असामान्य मूल्यन के जरिये भारत से अमरीका की ओर पूँजी निकास" से) द्वारा किये गये एक अध्ययन के हिसाब से निर्यातों के अधिबिजकन और आयातों के अधोबिजकन के द्वारा भारत से पूँजी का गैर कानूनी प्रवाह शायद सी. बी. आई. के अनुमान से भी कई गुना ज्यादा है। इन तकनीकों से 1993 में सिर्फ युनाईटेड स्टैट्स के साथ व्यापार में ही भारत से 1.6 से लेकर 4.4 बिलयन डॉलरों के करीब निकास हो गया है। और चूँकि युनाईटिड स्टैट्स के साथ भारत का व्यापार अपने कुल विदेशी व्यापार के छठे भाग के बराबर ही होता है इसलिये तुलनात्मक रूप से भारत से निकसित होने वाली सकल–राशि का आँकड़ा तो पूर्वोक्त से कई गुना ज्यादा हो सकता है।

प्लैनिंग कमिशन के उपाध्यक्ष मधु दण्डवते ने भारतीय अर्थव्यवस्था में काले धन के प्रचलन के बारे में बहुत ही मामूली सा ब्यौरा ही पेश किया था जब उन्होंने पिछले वर्ष दिसम्बर में यह कहा था कि यह तकरीबन 80000 करोड़ रूपये हैं। लेकिन नई दिल्ली में स्वीडन के राजदूतावास के चीफ. डी. अफेयर्ज डॉ. पीअरी हेल्ग ने अनओफीशल आंकलनों को पेश करते हुए कहा कि सिर्फ स्विस बैंको में ही भारतीय राजनीतिज्ञों और व्यापारियों ने चोरी से 80 बिलियन डॉलर (280,000 करोड़ रूपये) से भी ज्यादा धन छिपा रखा होगा और कि शायद यह आँकड़ा ज्यादा बड़ा भी हो सकता है *(आऊटलुक, मार्च 26,1997, पृष्ठ–52)* रहस्योद्घाटन करते हुए केंद्रीय निगरानी सचिव भूरे लाल ने बताया कि कुछ अर्सा पहले एक भारतीय जाँच मिशन के रूबरू स्वीस बैंक अधिकारियों ने कहा कि यहाँ की तिजोरियों में जो भारतीय धन बंद है उसका अनुमान नहीं किया जा सकता है। उनकी टिप्पणी थी : "असल में यह तो एक ऐसी आश्चर्यजनक स्थिति है कि जिसमें मानो सम्पन्न भारत, गरीब यूरोप की मदद कर रहा है।" *(द स्टैट्समेन, 2 दिसम्बर 1996)*। बजाए

1994–95 (फरवरी तक) में यह 46 फीसद हो गयी।" खासकर अस्सी और नब्बे के दशकों में, सरकार द्वारा सार्वजनिक वितरण प्रणाली के मार्फत उपलब्ध करवाये जाने वाले खाद्यान्नों, शक्कर आदि के दामों में बढ़ोतरी और पैट्रोलियम उत्पादों, कोयले, मालभाड़ों और किरायों में प्रचलित दरों में की गई लगातार तेज वृद्धि ने मुद्रास्फीति के दबाव को और भी ज्यादा बढ़ा दिया है। जियादातर सालों में दीगर मालों के बनिस्बत खान–पान की चीजों की कीमतों में तेजी की ओर कुछ ज्यादा ही रूख रहा है। हालाँकि जी डी पी की वृद्धि दर कम रही है और प्रति व्यक्ति जी डी पी तो और भी कम रही है लेकिन खाद्य की कीमतें तो लगातार और बेतहाशा ढंग से बढ़ती गई हैं। केन्द्र सरकार ने सिर्फ पिछले तीन सालों–1991–92 से 1993–94 में ही सार्वजनिक वितरण प्रणाली (जिससे गरीबों को लाभ पहुँचाने की उम्मीद की जाती है) के तहत उपलब्ध करवाये जाने वाले गेहूँ और चावल के निकास मूल्यों में ही क्रमशः 72 और 86 फीसद की बढ़ोतरी कर दी है।[32] और इसी के नतीजतन इनकी कीमतें खुले बाजार में भी एक ही झटके में आसमान पर जा पहुँची।

मुद्रास्फीति, खासकर आसमान छूती खाद्य की कीमतों से, मेहनतकश अवाम को सबसे ज्यादा झटका लगता है, चूँकि उनमें से ज्यादातर लोग अपनी आमदनियों का ज्यादातर हिस्सा–जीवन की न्यूनतम आवश्यकता–खाद्य–को खरीदने में ही खर्च करते हैं, अगर हम बी.एस. मिन्हास का उद्धरण दें तो : "गरीब और कमजोर लोग जिनके पास मुद्रास्फीति को बेअसर करने की कोई भी तरकीब नहीं होती है, इससे उन पर करारी मार पड़ती है। मुद्रास्फीति दर में प्रति एक फीसद वृद्धि से गरीबों की वास्तविक आय में भी एक फीसद संभावित वृद्धि हो सकती है, लेकिन इस एक फीसद होने वाली संभावित आय वृद्धि से भी कहीं ज्यादा वृद्धि हो जाती है गरीबों की वास्तविक संख्या में और कई–कई बार तो मुद्रा स्फीति की दर में मामूली सी तेजी की वजह से ही गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों और खाद्य सब्सिडी के प्रत्यक्ष लाभ तक गायब हो जाते हैं।"[33]

तो सारतः, एक ओर तो जहाँ साम्राज्यवादी बुर्जुआज़ी, इसके दलाल और जमींदार वर्ग इन 'विकास' योजनाओं के फायदों को खुले हाथों बटोरते हैं लेकिन ठीक इसकी दूसरी ओरआम जनता के दूसरे विशाल हिस्सों को इसकी भारी कीमत चुकानी पड़ती है।

⌘⌘

बचत में मदद मिलने और उत्पादक उद्देश्यों में निवेश को प्रोत्साहन देने के औद्योगिक महारथियों (टाईकुंज) को दिये जाने वाली विभिन्न टैक्स राहतों ने असल में आनुपातिक रूप से भ्रष्टाचार को ही फूलाकर विकराल होने में मदद पहुँचाई है, जिसकी वजह से आम जनता और देश के हितों को भारी ठेस पहुँची है।

"भारतीय सत्ता का एक ऐसा ही चहेता वर्ग है जमींदार" जो कि शायद ही कोई प्रत्यक्ष–कर अदा करते हों। जैसा कि हम पीछे जान आये हैं कि आठवीं योजना के लिहाज से, एग्रीकल्चरल सैक्टर के मद्देनजर भूमिलगान और एग्रीकल्चरल इंकमटैक्स समेत डिरेक्ट टैक्सों का कृषिगत जी डी पी से अनुपात 1950–50 के 1.2 फीसद से फिसलकर 1989–90 में 0.7 फीसद पर आ गिरा है।[26]

लेकिन इसके बावजूद भी, जमींदारों और धनी किसानों को राज्य हरेक किस्मों के ईनाम लुटाता है। कृषि–विकास के नाम पर करोड़ों रूपयों के निवेश का असली फायदा उठाने वाला मुख्यतः यही वर्ग है, चूँकि इन्हीं के पास भूमि की ज्यादातर मिल्कियतें हैं। इसलिये सिर्फ यही वर्ग, कम सिंचाई दरों, सब्सिडी शुदा बिजली, फार्म मशीनरी खरीदने के लिये सस्ते कर्जों, सब्सिडी शुदा खाद आदि खरीदने के लिये इस सैक्टर को दिये जाने वाले फायदों की भारी भरकम राशियों को हड़प जाते हैं। ये सिर्फ जमींदार और धनी किसान ही हैं जो कि सरकारी खरीद मूल्यों में की गई बढ़ोतरी का असली फायदा उठाते हैं, चूँकि खरीद मूल्य ऐसे 'तलीय' मूल्यों पर स्थिर किए जाते हैं जिनके आधार पर ही खुले बाजार के मूल्य जो कि कुछ अधिक बढ़े होते हैं तय किए जाते हैं और इस तरह से सिंचाई, सब्सिडी शुदा बिजली, सस्ते ऋणों और सब्सिडी शुदा खाद के अत्यधिक विशाल फायदों को जमींदार और धनी किसान लूट लेते हैं। आठवीं योजना के हवाले से, 1987–88 के आकलनों के लिहाज से, "वार्षिक लागत खर्चों और सिंचाई दरों से मोसुल हुई रकमों के बीच 400 करोड़ रूपयों से.....भी ज्यादा चौड़ी खाई है.....इसी तरह से ऐसी ही दिक्कत भूजल सिंचाई में भी है जहाँ जल की दरें, वास्तविक आर्थिक जल दरों का केवल छठा भाग ही है। जल पंपन समेत कृषि उद्देश्यों के लिये विद्युत के खर्चे भी अत्यधिक सब्सिडी शुदा हैं।[27] (लेकिन इसके बावजूद भी यहाँ पर दो खासियतों की ओर ध्यान दिलाना जरूरी होगा। पहला तो यह कि सब्सिडियों के ये आँकड़े भरोसे काबिल नहीं हैं, चूँकि इनमें अभी और भी कई किस्मों के फायदों की भारी भरकम लूटें शामिल होनी हैं। मसलन, ठेकेदार–नौकरशाह–सियासतदानों की तिकड़ी हरेक सिंचाई परियोजना से भारी मात्रा में फण्ड्ज की चोरी कर लेती

संशोधित बजट अनुमानों 1997–98 में (बाहरी और अंदरूनी) कर्जों का चुकतारा 66,545 करोड़ रूपये और ब्याज भुगतान 58,500 करोड़ रूपये था... .....यानि कुल जमा 125,045 करोड़ रूपये जो कि भारत सरकार द्वारा 1996–97 में वसुले गये कुल राजस्व का 95.6 फीसद हिस्सा था। कर्जे और उसके ब्याज के निपटान के लिये 1997–98 के बजट में दर्शाये गये आँकड़े क्रमशः 74,632 करोड़ और 68,000 करोड़ रूपये थे, यानि कुल 142, 632 करोड़ रूपये जो कि संभावित सकल राजस्व प्राप्तियों के 93.1 फीसद के बराबर थे। लेकिन कॉर्पोरैट सैक्टर और सम्पन्न वर्गों पर टैक्स–छूटों की बौछार कर दिये जाने की वजह से इस फीसद में बढ़ोतरी होने की आशंका है क्योंकि इसके असर के चलते राजस्व प्राप्तियों में कमी होने की प्रबल संभावना है। इस तरह से साल दर साल, कर्जों और कर्ज भुगतान सेवाओं का बोझा तेजी से बढ़ता ही चला जा रहा है।

योजनाओं का वित्त पोषण करने के ये तमाम तरीके–जैसे भारी अपरोक्ष कराधान (इसके साथ ही बड़े और मंझले बुर्जुआजी और जमींदारों को हर किस्मों की टैक्स रिआयतें देना) और फिर जनता की खरीद क्षमता में इसी के बराबर बढ़ोतरी लाए बगैर ही मुद्रा–प्रसार में की गई भारी असंगत बढ़ोतरियाँ, अदंरूनी और बाहरी कर्जे और इनकी 'सर्विसिंग' हेतु रकमों की चौंकाने वाली बढ़त–आखिरकार ये सब कदम, हिंदुस्तानी मेहनतकश अवाम से धन छीनकर बुर्जुआजी और जमींदारों की ही झोलियों में भरने और फिर सारी हिंदुस्तानी अवाम से छीनकर विदेशी बुर्जुआजी की झोलियाँ भर देने के ही कदम हैं।

पक्के तौर पर, इन सब कारणों ने ही पचास के अधबीच से ही भारतीय अर्थव्यवस्था पर, बगैर किसी रूकावट के मुद्रास्फीति के दबाव को बढाने में मदद की है। खासकर 1991–92 से ही, मेहनतकशों के इस अभिशाप–मुद्रास्फीति, की दर बहुत तेज रही है। मुद्रास्फिति की औसत वार्षिक दर 1990–91 में 13.6 फीसद, 1991–92 में 13.7 फीसद और आगे के सालों–1992–93, 1993–94 और 1994–95 में क्रमशः 10.1, 8.4 और 10.8 फीसद रही थी।[31] और ठीक इन्हिं सालों में जी डी पी की वृद्धि दर थी क्रमशः 1.1, 4.0, 3.8 और 5.3 फीसद। लेकिन वर्ष 1991–95 के बीच हुई जी डी पी की वृद्धि दर को संबल मिल गया था फाईनैन्शल सैक्टर में हुई अचानक आई उछाल का, जो कि प्राईमरी और सैकण्डरी सैक्टर्ज की वृद्धि दरों से भी आगे निकल गयी थी।

आधिकारिक *आर्थिक सर्वेक्षण–1994–95* में दर्शाया गया है : "प्राथमिक उपभोक्ता सामानों की वजह से लगातार बेमेल ढंग से मुद्रा–स्फीति में बढ़त हो रही है, 1993–94 (फरवरी तक) में यह 35 फीसद के मुकाम से बढ़कर

है चोर–मोखों के रस्तों से और फिर बाद में इन्हें परियोजना खर्चों में जोड़ दिया जाता है। सारे फर्टिलाइजर प्लान्टों को, आयातित तकनालोजी से ही निर्मित किया जाता है जिनकी कीमतें जानबूझ कर अपने घोरतम रूप में ऊँची बताई गई होती है, तिस पर भी तुर्रा यह कि इन कारखाना मालिकों को अपनी लागतों को बढ़ाकर दर्शाने के लिये प्रोत्साहित किया जाता है क्योंकि जो कीमतें ये प्राप्त करते हैं उसका आधार होता है लागत–जमा–आकलन। दूसरा यह कि योजनाबद्ध समाजवादी अर्थव्यवस्था तक में, सुरक्षित कृषि विकास के दृष्टिकोण से, विभिन्न कृषि लागतों में सब्सिडियों का इंतजाम किया जा सकता है। पर यहाँ पर सवाल ये है कि हमारे समाज में जमीन के बँटवारे में गैर बराबरी और ग्रामीण–प्रशासन पर अधिक बड़े भूस्वामियों के तगड़े कब्जे के चलते ऐसी सब्सिडियों का असल फायदा तो सिर्फ एक छोटे से हिस्से को ही मिलता है)

कृषिगत लागत एवम् मूल्य कमिशन चैयरमेन एस. एस. आचार्य के अनुसार 1992–93 में सिंचाई के लिये 3,011 करोड़ बिजली के लिये 5,963 करोड़ और एग्रीकल्चरल सैक्टर में कुल लागत के लिये 14082 करोड़ रूपयों की सब्सिडियाँ दी गई थीं(28) लेकिन मंझौले और गरीब किसानों को इन तमाम सब्सिडियों का बहुत मामूली हिस्सा ही मिला।

जमींदार, भारत के शासकवर्गों का ही हिस्सा हैं : वे दलाल बड़े बुर्जुआजी के साथ राजसत्ता में भागीदार हैं और दलाल बड़े बुर्जुआजी की तरह ही ये भी योजनाओं के वित्त पोषण में मुश्किल से ही कोई मदद करते हैं।

हिन्दुस्तानी हुक्मरानों के हाथों में घाटे की वित्त–व्यवस्था नाम का एक और ऐसा औजार है, जिसका इस्तेमाल ये अपनी योजनाओं के लिये धन उगाहने के लिये करते हैं। इन दिनों हिंदुस्तानी हुक्मराँ ज्यादा से ज्यादा मुद्रा–प्रसार का सहारा ले रहे हैं–राष्ट्रीय आय में न्यायोचित हल्की सी बढ़त के मुकाबले कई गुना ज्यादा–दूसरी पांच साला योजना से लेकर आज तक यही नुस्खा इस्तेमाल किया गया है। तीसरी योजना (1961–66) के दौरान, मिसाल के तौर पर, राष्ट्रीय आय की वार्षिक बढ़ोतरी दर 2.2 फीसद थी, लेकिन मुद्रा उपलब्धता करीब 40 फीसद तक बढ़ गई। राष्ट्रीय आय में वृद्धि, खासकर प्रति व्यक्ति आय (जो कि 1.4 फीसद सालाना के करीब रह चुकी थी) हमेशा ही मुद्रा प्रसार के बहुत पीछे रही है।

ज्यादा से ज्यादा इनडिरेक्ट टैक्सों की तर्ज पर ही, अंधाधुंध मुद्राप्रसार ने बिलाशक तेज मुद्रास्फीति को जनमा है, कम से कम पाँचवें दशक के मध्य से तो। एक ओर तो उत्पादन वृद्धि दर, खासकर आम उपभोक्ता वस्तुओं की

उत्पादन वृद्धि दर, धीमी रही है। लेकिन इसके उलट मुद्रा की उपलब्धता में वृद्धि और इसी के नतीजों से मालों की महँगाई में वृद्धि, खासकर आवश्यक वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि की दर बहुत ही तेज रही है। फिलवक्त यहीं तक, लेकिन इस पहलू पर हम दुबारा फिर लौटेंगे।

योजनाओं के वित्त–पोषण के लिये एक और महत्वपूर्ण स्रोत है आंतरिक ऋण और यह भी हरेक साल चढ़ता ही जा रहा है। केंद्र पर 1993–94 में 2,42,729 करोड़ रूपयों का अदंरूनी कर्जा बकाया था जो कि बीते साल के मुकाबले 43,627 करोड़ रूपये ज्यादा था। कुछ दूसरी देनदारियाँ, जिनमें लघु–बचतें, प्रोविडेन्ट फण्ड्ज आदि शामिल हैं, 1992–93 के 1,60,554 करोड़ रूपयों से बढ़कर 1994–95 में 1,83,298 करोड़ रूपये हो गयी।(29) इन कर्जों के सूद को चुकाने के लिये 1995–96 के बजट में 52,000 करोड़ रूपयों की अनुमानित राशि का प्रावधान रखा गया था जो कि सकल राजस्व प्राप्तियों के 51.5 फीसद हिस्से को सीधे–सीधे निगल जायेगा।[30]

जैसा कि हम पीछे देख आये हैं कि भारतीय योजनाएँ हमेशा ही बाहरी कर्जों के भरोसे रही हैं, ऐसे वित्त पोषणों के लिये भारतीय जनता को जो कीमतें चुकानी पड़ती हैं वो वाकई कमर–तोड़ हैं। कई एक झूठे जामों के तहत देनदारियों के अलावा भी, भारत को विदेशी ऋणदाताओं को जो ऋणभुगतान सेवाऐं देनी पड़ती हैं, वे पिछले चार सालों में ही 35.52 बिलयन डॉलर थी : (1991–92 में 8.2 बिलयन डॉलर, दुबारा 1992–93 में भी 8.20 बिलयन डॉलर, 1993–94 में 8.32 बिलयन डॉलर और 1994–95 में 10.8 बिलयन डॉलरों के हिसाब से)– यानि करीब–करीब 1,11,888 करोड़ रूपये और ये सिर्फ और सिर्फ सरकारी अनुमान ही है। वास्तविक बाहरी निकास तो जरूर ही बहुत ज्यादा बड़ा रहा होगा।

द स्टैट्समैन के एक लेखदाता का लिखना है : ".....भारत सरकार की अंदरूनी और बाहरी देनदारियाँ जो कि 1994–95 में 723,850 करोड़ रूपये थी, बढ़कर 1995–96 में 783,462 करोड़ रूपये हो गयी.....इस तथ्य को महसूसा जाना चाहिये कि सरकार जब भी बाहरी कर्जों की बात करती है तो वह दरहकीकत गुजरे जमानों की कीमतों के आधार पर ही आँकड़े पेश करती है यानि इसका यही मतलब है कि असली गोलमाल का खतरा दिखावे से कहीं ज्यादा संगीन है, *(अदिती रॉय घटक, "पीग्ज ब्रैकफस्ट : मैकिंग ए मेस ऑफ रिफॉर्म्ज" द स्टेट्समैन, फैब्रुअरी 27, 1997)*।

4. L.H. Jenks, *The Migration of British Capital to 1875,* London, 1903 (first published in 1927), p. 167.
5. Magdoff, "Economic Aspects of U.S. Imperialism," *Monthly Review,* Nov. 1966, pp. 38, 39.
6. Landes, *The Unbound Prometheus,* London, 1969, pp. 12-4.
7. See Utsa Patnaik, "India's Agricultural Development in the Light of Historical Experience," in T.J. Byres (ed.), *op cit,* pp. 267-8.
8. Barratt Brown, "A Critique of Marxist Theories of Imperialism" in R. Owen and B. Sutcliffe (eds.), *Studies in the Theory of Imperialism,* London, 1972, p. 64.
9. Sivasubramonian, "Income from the Secondary Sector in India, 1900-47", *The Indian Economic and Social History Review,* Oct.-Dec. 1977, p. 489 - emphasis added.
10. Baran, *The Political Economy of Growth,* New York, 1962 edn; p. 163.
11. *The Statesman,* 22 Feb. 1995.
12. Patel, "Indian Economy" *Economic Times (ET),* 3 Mar. 1986.
13. *ET,* 12 Jun., 1994.
14. *Business Standard (BS),* 26 May 1993.
15. See Baran, *op cit,* p. 136. Baran's source in Ragnar Nurkse, *Problems of Capital Formation in Underdeveloped Countries,* Oxford, 1953, p.63.
15a. World Bank, *World Development Report 1997 : The State in a Changing World,* New York, June 1997, pp. 207, 214-5.
16. T. Dos Santos. "The Crisis of Development Theory and the Problem of Dependence in Latin America", in Henry Bernstein (ed.) *Underdevelopment and Development,* Harmondsworth, Middlesex, 1973, pp. 67-8.
17. *ibid,* p. 78.
18. W.G. Friedmann and G. Kalmanoff (eds.) *Joint International Business Ventures,* New York, 1961, pp. 151, 153; see also Selig S. Harrison (ed.), *India and the United States,* New York, 1961, pp. 154-5; "Transnational Corporations in Electrical Industry," *Economic and Political Weekly (EPW),* 20 Jan. 1979, pp. 103-6.
19. Kidron, *op cit, p. 288.*
19a. GOI, Planning Commission, *Eighth Five Year Plan 1992-97,* Delhi, 1992, Vol. I, p.13.
20. *Ibid.*

मंजुश्री इण्डस्ट्रीज। इसके पास, "एक्रिलिक फाइबर्ज़, बैम्बु–पल्प, स्टील कास्टिंग्ज और कॉटन स्पीनिंग के अलावा, 30 सितम्बर 1964 को लाइसेंसों/लेटर्ज़ ऑफ इण्टेंट (इरादा पत्र) के रूप में सिर्फ 5000 रूपयों (पाँच हजार रुपयों – अनु.) की शेयर केपिटल थी और इसमें कहने तक के लिये भी कोई दायित्व या परिसंपति नाम की कोई भी चीज शामिल नहीं थी।" तो इस तरह से, हमेशा ही कुछेक पसंदीदा कारोबारी घरानों को अधिकतम औद्योगिक लाइसेंस प्रदान किये जाते थे ताकि वे इस प्रतिस्पर्धा से औरों को रोक सकें। जैसा कि हजारी इशारा करते हैं, "यह लाइसेंसिंग नीति, "प्रभावशाली समूहों को बढ़ावा देती थी– लाइसेंसिंग केपेसिटी पर पहले से ही बंदिशें लगा देने के लिये और फिर उनको लागू न किये जाने के लिये", यही थे वो जो कि इन पर "कुण्डली मार कर बैठ जाते थे".....यूँ देखें तो इन लाइसेंस शुदा एवम् पारित (अप्रुव्ड) प्रोजिक्टों के समयबद्ध कार्यक्रमों की संतोषप्रद अनुपालना बहुत ही कम होती है। कभी भी किसी भी वक्त में, संबंधित अधिकारियों तक को इस बात की खबर तक नहीं होती थी कि इश्यु किये गये लाइसेंसों या इनके तहत अनुपालनाओं में कुल कितना सकल निवेश हुआ है और कुल कितनी विदेशी विनिमय जिम्मेदारियाँ हासिल हुई हैं।"[8] सबसे विशाल कारोबारी घरानों को, लाइसेंस कैपेसिटी का अत्यधिक गैर आनुपातिक हिस्सा प्रदान (एलोट) किया जाता था। सियासत से गठ जोड़ के चलते, बड़े व्यापारिक घरानों के मार्फत, लाइसेंसों को पहले से ही हड़प लेने और फिर उनमें से ज्यादातर पर कुण्डली मारकर बैठ जाने के चलन की यह वज़ह, कई वज़हों में से सिर्फ एक वजह थी जिसकी वजह से प्लैनिंग कमीशन के लक्षित उत्पादन में गिरावटें आयी थीं।

कथित सामाजिक प्रतिबद्धताओं के बारे में, इन योजनाकारों ने बगैर किसी शर्म के जबानी जमा खर्च करना जारी रखा, मगर व्यावहारिक रूप में, जैसा कि आर. के. हजारी ने इशारा किया था, "करीब–करीब सभी प्रोजिक्टों को लाइसेंस दिये गये, यानि उन सबको जो कि विदेशी गठजोड़ों, इम्पोर्ट सबस्टीट्यूशन आदि की चाहे कुछेक दोयम दर्जे की शर्तों को ही पूरा करते थे; लेकिन इन सबका हकीकत में वांछित प्राथमिकताओं से कोई लेना देना था ही ही नहीं।"[9]

हुकूमत की ये मंशा थी कि लाइसेंसिंग पॉलिसी की मदद से एकाधिकार या बहुएकाधिकार को खड़ा किया जाये, चूंकि लाइसेंस प्रदान करना– संभावित उपलब्धता और संभावित मांग की क्षमता से जुड़ा था और चूंकि ऐसा करने से, हिंदुस्तानी कारोबारी दिग्गजों और उनके विदेशी

मददगारों को अपने प्रतिस्पर्धियों को मैदान से ही बाहर रखने में मदद मिलती थी और इस तरह से खुद अपने ही तेज बढ़ाव और फैलाव में मदद के लिये जरूरी एकाधिकारी बाजार (मोनोपलिस्टिक मार्केट) हासिल होने का भरोसा मिल जाता था।

जी. डी. पी. की वृद्धि दरों को लेकर, योजनाकार, आमतौर पर बड़े चाव से ख्याली पुलाव पकाते रहे हैं। जी. डी. पी. की वार्षिक वृद्धि दर पाँच फीसद से ज्यादा आंकी जाती रही है, लेकिन हुआ ये है कि औसत वार्षिक वृद्धि दर हमेशा 3.5 फीसद ही रहती आयी है। भौतिक लक्ष्यों और वित्तीय लक्ष्यों (विदेशी ऋणदाताओं से मिलने वाले कर्ज़ों की उम्मीदों समेत) आंके गये उपलब्ध संसाधनों के बीच अकसर ही एक चौड़ी खाई रही है। तीसरी योजना की चर्चा करते हुए हैन्सन की टिप्पणी थी, "लगता था कि कमीशन अपने उन आशुविश्वासी पाठकों को धोखा दे रहा था जो कि इसकी गणितीय आंकड़ेबाजी पर यकीन करने के लिए तैयार थे।" वे इस बात पर जोर डालने के लिये भौतिक और वित्तीय लक्ष्यों के बीच तीव्र अन्तर्विरोधों को प्रदर्शित भी करते हैं।[10] गुन्नर मिर्डिल ने यह अंकेक्षण किया कि भारत में, "मूलभूत सुविधाओं और उद्योगों के लिये सार्वजनिक निवेश लक्ष्यों में, योजनायें लगातार पिछड़ती रही हैं। कृषि, ग्रामीण कल्याण और शिक्षा के छितराये हुए कम महत्ता के सावर्जनिक प्रयासों के मामलों में तो योजना और उसकी परिणति के बीच और भी ज्यादा चौड़ी खाई है। भारतीय योजनाओं के संबंधित भागों में अकसर ही अकादमिक प्रोपेगेण्डा का एबस्ट्रेक्ट (अमूर्त) और अवास्तविक सुर होता है जैसा कि आम तौर पर बहस मुबाहिसे में पाया जाता है।"[11]

जैसा कि हम पीछे रेखांकित कर आये हैं कि खुद पाँच साला प्लेन के सौदे में ही, 25 सालों की योजनाओं का सिंहावलोकन करते हुए यह कबूला गया है कि "योजना के सबसे महत्त्वपूर्ण लक्ष्यों" को हासिल नहीं किया जा सकता है, और कि "आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण" बढ़ गया है और कि "भूमि सुधार कार्यक्रमों से, देहाती संपत्ति के बँटवारे पर कुछ भी असर नहीं पड़ा है।"

डी. आर. गाड़गिल,जो कि प्लैनिंग कमीशन के उपाध्यक्ष रहे थे, उन्होंने यह प्रदर्शित किया था कि भारतीय "नियोजित" अर्थव्यवस्था की सबसे बड़ी खासियत यही है कि बस इसमें नीतिगत ढाँचे की मौजूदगी सिरे से ही गायब है और कि यह करीब–करीब "लैंसेज़ फैईर" अर्थव्यवस्था की तर्ज पर काम करती है और कि इसमें कभी–कभार किसी खास नियन्त्रण को लेकर कुछ

13. See Wadia and Merchant, *op cit,* pp.43-4- emphasis added.
14. Hanson, *op cit*, p. 38; also H. Venkatasubbiah, *Enterprise and Economic Change: 50 Years of FICCI*, New Delhi, 1977, p.50.
15. Kidron, *op cit*, p.19.

II. Two kinds of Planning (योजनाओं के दो प्रकार)

1. Frederick Engels, *Dialectics of Nature,* Moscow, 1966, p.35. Emphasis added except on the words "animal king dom," which is in the original.
2. World Bank, *China: Socialist Economic Development,* a World Bank Country Study, Vols. I-III, Washington D.C. 1983; the quotes are from Vol. I. pp. 4, 10, 11, 12, 94, 104, 117, 127 and Vol. II, pp. 7, 115- emphasis added.
3. Chatterjee, "Development Planning and the Indian State," in T.J. Byres (ed.). *The state and Development Planning in India,* Delhi, 1994, p.57.
4. Quoted in Hansom, *op cit,* p. 119.
5. See Suniti Kumar Ghosh, *India and the Raj. 1919-1947 : Glory, Shame and Bondage,* Vol. II, Bombay, 1995, esp. Chap. 9.
6. Shelvankar, *The Problem of India,* Harmondsworth, Middlesex, 1940, p. 70. - emphasis added.
7. Francine R. Frankel, *India's Political Economy 1947- 1977,* Delhi, 1984, p. 84 - emphasis added.
8. Brecher, *Nehru : A Political Biography,* London, 1959, pp. 515-6 emphasis added.
9. Bowles, *Ambassador's Report,* London, 1954, pp. 199-200.
10. Quoted in S. Gopal, *Jawaharlal Nehru : A Biography,* Vol. II, Delhi, 1997, p.221 - emphasis added.
11. Moraes, "Gandhi Ten Years After," *Foreign Affairs,* Jan. 1958, pp. 257-8, quoted in Gunnar Myrdal, *Asian Drama,* Vol. I, Harmondsworth, Middlesex, 1968. p.97fn.1.
12. Myrdal, *ibid,* p. 117.

III. Models of Underdevelopment and Dependence (अधोविकास के माडल और दासता)

1. Chatterjee, *op cit,* p. 54. The lines quoted by him are from (Jawaharlal) *Nehru's Speeches,* Vol. II, New Delhi, 1954.
2. Mao Tsetung, *A Critique of Soviet Economics,* New Delhi, p.66.
3. Bernal, *Science in History,* London, 1954, p. 253 - emphasis in the original.

REFERENCES AND NOTES

I. The Genesis (उत्पत्ति)

1. Note by Schuster in GOI Commerce Dept. Procs. A. No. 1 of March 1934 file 7-c(1) of 1933; cited in B.R. Tomlinson. *The Political Economy of the Raj*. 1914-1947, London, 1979, pp.89-90.
2. G.D. Birla, *The Path to Prosperity*, Allahabad, 1950,pp.1-26.
3. J. Nehru, *The Discovery of India*, London, 1956 reprint, pp.400-1; Frank Moraes, *Sir Purshotamdas Thakurdas*, Bombay, 1957, p.190; S.K. Goyal, *Monopoly Capital and Public Policy*, New Delhi, 1997.p.39; A.H. Hanson, *The Process of Planning: A study of India's Five-Year Plans 1950-1964*, London, 1966, p.35.
4. For a discussion of the comprador character of the Indian big bourgeoisie, see Suniti Kumar Ghosh, *The Indian Big Bourgeaisic:Its Genesis, Growth and Character*, Calcutta, 1985 and *India and the Raj, 1914-1947:Glory, Shame and Bondage*, Vol. 1, Calcutta, 1989, Chapter 2.
5. Purshotamdas Thakurdas et al, *A Brief Memorandum Outlining a Plan of Economic Development of India*, Bombay, 1944, part I,p.48-emphasis added.
6. P.A. Wadia and K.T. Merchant, *The Bombay Plan : A Criticism*,_Bombay, 1945 pp.29, 40; and pp. 45-7.
7. S. Gopal (ed.), *Selected Works of Jawaharlal Nehru* (hereafter cited as *SWN)*, Vols. I-XV (Ist series), Vols. I-III (2nd series). New Delhi. 1972-1985; Vol. XIII, p. 353.
8. N. Mansergh (editor-in-chief) *Constitutional Relations between Britain and India : The Transfer of Power 1942-7*, (hereafter cited as *TOP)*, Vols. I-XII, London. 1971-1983; Vol. IV pp.851-2; *Indian Annual Register* (ed. by N.N. Mitra), Calcutta (cited hereafter as *IAR)*, 1944, Vol. II, p.301.
9. TOP, Vol. V, pp. 466-71 - emphasis added; see also Vol. IV, pp.424-7, 676, 741, 810,-2,851-2.
10. Hanson, *op cit*, pp.37-8; see also Michael Kidron, *Foreign Investments in India*, London, 1965,p.19.
11. For the full text of the Statement, see *Aspects of India's Economy - AIE* -, No.II.Jan-Mar.1991, pp.42-63.
12. *TOP* Vol. V.p.887; see also Tomlinson, *op cit*, p. 100.

ज़रा सी तब्दीली आ जाती थी।" उन्होंने कहा कि, "बिलाशक, आज भारत में आर्थिक नीतियों की जो शक्ल और दिशा है, वो मूल रूप से वैस्टिड–इंटरेस्ट (स्वार्थी–हितों) के असर के कारण ही है....." उनका यकीन था कि लगातार बाहरी मदद के भरोसे रहने से "हमारा भविष्य भी साहूकार के पास गिरवी हो जाता है : और जैसा कि हाल ही के दर्दनाक अनुभवों से यह साबित हुआ है कि इसमें विदेशी इतने अधिक प्रभावशाली हो जाते हैं कि वे हमारी अर्थव्यवस्था को खुद उनके अनुरूप ढाल सकते हैं।"[12]

प्रख्यात फ्राँसिसि अर्थशास्त्री, चार्ल्ज़ बैटल हाईम, जिन्हें भारत की "विकास" योजनाओं का गहराई से ज्ञान था; उनकी टिप्पणी थी कि ना तो राजनेताओं के और ना ही अधिकारियों, जो कि ये योजनाऐं बनाते थे, उनमें से किसी के भी दिमाग में "कोई भी निश्चित" सिद्धांत हुआ करता था। भारतीय योजनाऐं बिल्कुल नीम–हकीमों जैसी होती थी, उनकी मंशातो बस इतनी सी हुआ करती थी कि मुँह बाये खड़े कुछ सवालों का जवाब दे दें और बस कुछेक उम्मीदों और जरूरतों को संतुष्ट कर दें। बैटल हाईम की आगे टिप्पणी थी कि इन योजनाओं की खास चारित्रिक विशेषता ये थी कि "वे इतना ही दिखलाती हैं जो कि अनुमानित है या फिर जिसकी आशा है। वे समाजवादी योजनाओं से बिल्कुल जुदा हैं जिनमें कि अति आवश्यक और अनिवार्य शर्तें लागू होती हैं.....भारतीय योजनाऐं तो बस, जितनी मुमकिन हो सके, उतनी कोशिश करती है कि कृषि, आर्थिक और औद्योगिक नीतियों को आने वाले पाँच सालों के लिये सरकार की ओर से परिभाषित कर दे। हुकूमत और इसकी नौकरशाही, योजना को स्वाभाविक रूप में जितना पूरा करना संभव हो उतना पूरा करनी चाहती है, लेकिन कानूनी जिम्मेदारियों को लांघे बगैर वे ऐसे कदम भी उठा सकते हैं जो कि मूल योजना में ही नहीं सुझाये गये हैं। और इसकी खास वजह है भारतीय अर्थ व्यवस्था का पूँजीवादी चरित्र जो कि निजी पूंजी को पहल कदमी की खूब इज़ाज़त देता है। इस पर बहुत ही कम बंदिशें लगायी जाती हैं.....*इसलिये हक़ीकत मे योजना नाम की कोई भी चीज मौजूद नहीं है और जैसा कि यह तथ्य है कि किसी भी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में ऐसी कोई चीज पायी भी नहीं जाती है;* अगर हम इस पारिभाषिक शब्द को न सिर्फ योजना की तैयारी प्रक्रिया बल्कि उसके अनिवार्य अमल को भी समझने के लिये इस्तेमाल करें।"[13]

साठ के दशक में लिखते हुए, बैटल हाइम ने यह भी रेखांकित किया था कि "विदेशी कर्ज़ों पर भारत की निर्भरता बढ़ती ही जा रही है", और कि "विदेशी कर्ज़ों और विदेशी निवेशों की वज़ह से लागतों में भी भारी

बढोतरियाँ हो रही हैं," उनका अंदाजा था कि अगर हालात नहीं बदले तो भारत जल्द ही एक "पुरातन और बहुत जानी पहचानी हालत में पहुँच जायेगा, जो कि अभी दक्षिण अमरिका में चल रही है : जैसे, विदेशी खर्चों (जिसमें अदायगियाँ, ब्याज की कीमतें, लाभांश, आयात कीमतें आदि शामिल होती हैं) का भुगतान करने में अक्षमता, अधिक अनुदान की मांगों और पैमेंट मोरेटोरियम, कर्ज़दाता देशों द्वारा आई. बी. आर. डी. या आई. एम. एफ. के द्वारा भेजे गये 'फाइनैंशल एक्सपर्टों के मिशन का पहुँचना; जो कि एक "मितव्ययिता के कार्यक्रम" की रूपरेखा बनाऐंगे और जिन्हे भारत को जबरदस्त दबाव के तहत मनवाया ही जायेगा और इस तरह से भारत; निवेश, कीमतों, मुद्रा आदि के मामलों में अपनी स्वयंभुता खो देगा।"[14]

मध्य साठ के दशक में योजना जैसे बिखर सी गयी थी; जब 1966 में, अमरीकी साम्राज्यवादियों और विश्व–बैंक ने भारत को मजबूर कर रुपये का 36.5 फीसद अवमूल्यन करवा डाला। भारत के तत्कालीन योजना मंत्री अशोक मेहता के पीछे–पीछे प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने वांशिगटन पहुँचकर अमरीकी राष्ट्रपति जोहनसन के साथ दो मुलाकातें की और यू. एस. कैबिनेट मेंबरों के साथ ही साथ विश्व बैंक अध्यक्ष जॉर्ज वुड्ज के साथ समझौता वार्ता की। इस बारे में फ्रैंसाइन फ्रैंकल का उद्धरण है, *"योजना मंत्री ने, जिन्होंने कि चौथी योजना की करीब–करीब सारी योजनाओं को जॉर्ज वुड्ज के सामने परोस दिया था ताकि वे उन पर गौरो–फिक्र कर सकें और फिर इन पर अपनी मंजूरी दे सकें।* और इसके साथ ही उन्होंने नयी कृषि रणनीति के अमल में हुई तरक्की की ओर इशारा किया (जो कि हरित क्रांति के नाम से जानी जाती है और जिसने भारतीय कृषि में साम्राज्यवादी पूँजी को घुसपैठ करवाना शुरू किया था; और कि जिसे भारत सरकार ने शुरू किया था यू. एस. साम्राजयवादियों के हुकुम से[14] और स्वास्थ्य मंत्रालय के मातहत अलग से परिवार नियोजन विभाग खोलते हुए परिवार नियोजन लागू करने के बारे में एक बड़ा वादा; फर्टिलाईज़र्ज और पैट्रोलियम क्षेत्रों में विदेशी निजी निवेशों के लिये और नये अवसर पैदा करने और औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति में मूल्य निर्धारण और बाजार नियंत्रण के कदमों में ढिलाई बरतने जैसे शुरूआती कदम उठाने के वादे किये गये थे।"[15]

लेकिन इससे भी पहले, जैसा कि पूर्व में उद्धृत किया गया था, सरकार के खाद्य एवं कृषि मंत्री, सी. सुब्रमनियम ने, 1965 के आखिर में, वांशिगटन की यात्रा की थी ताकि यू. एस. डिपार्टमेंट ऑफ अग्रीकल्चर में भारत की नयी कृषि रणनीति की रूपरेखा को जमा करवाया जा सके और

योजना को पूर्ण रूप से लागू करना संभव नहीं हो सका। जैसा कि चैस्टर बोअल्ज़ (जो कि सन् 1961 में संयुक्त राज्य के अवर–सचिव और अफ्रीकी, एशियाई एवम् लैटिन अमेरिकी मामलों के सन् 1962 में कैनेडी के प्रतिनिधि और सलाहकार बने) ने कहा, दोनों महाशक्तियों की अकेले अकेले "भारत और एशिया को प्रभावित करने की क्षमता, निश्चित रूप से ही सीमित है।" इसलिये साम्यवादी चीन को अपना मुख्य शत्रु मानने का कारण, दोनों देशों में प्रतिस्पर्धा के साथ ही साथ एक टकराव भी था और वो टकराव था भारत की किस्मत को अपने अनुकूल ढ़ाल सकने की मंशा को लेकर। बोअल्ज़ लिखते हैं "ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय उपमहाद्वीप के मद्देनजर, संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत यूनियन के कुछेक मूलभूत हित आपस में एक ही बिंदु पर मेल खा रहे हैं।"

अगर इस लम्बी कहानी को छोटा करें तो अस्सी के दशक से शुरू हुआ आत्मनिर्भरता का ये शब्दाडंबर (जो कि साम्राज्यवादी ताकतों पर निर्भरता से ही अर्जित की जानी थी) भी अब तो कुछ–कुछ खामोश सा हो गया है। अब तो विदेशी पूँजी और विदेशी तकनीक का प्रचार, जोर शोर से किया जाता है। अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक नाम के जुड़वाँ सहोदरों और गैट की गिरोहबंदी ने अन्ततः भारतीय योजना प्रक्रिया को कम से कमतर करते हुए उसे अब तो सिर्फ एक आनुष्ठानिक कसरत में ही तब्दील कर डाला है।

⌘⌘

गये थे। लेकिन मैसाचुसेट्स इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी (एम. आई. टी.) द्वारा योजना बनाने के काम का अन्त होने का अर्थ यह नहीं होता है कि संयुक्त राज्य अमेरिका और उसके दबदबे वाली अंतरराष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं का भारतीय शासक वर्ग की 'विकास' योजनाओं पर दबदबा खत्म हो गया है।

जैसा कि हमने पहले बताया है और जिन्हें हम फिर से दर्शाएंगे, भारतीय अर्थव्यवस्था को दिशा देने वाली विशद् नीतियाँ, वाशिंगटन तथा दूसरे महानगर राज्यों में साम्राज्यवादी ताकतों और विश्व बैंक, अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, गैट (अब डब्ल्यू. टी. ओ.) आदि तैयार करते हैं जो कि उनके हितों के ही चौकीदार हैं।

यही वो नीतियाँ हैं जिनके साँचे में भारतीय योजनाओं को ढाला जाता है। दोनों महाशक्तियों में से एक पूर्व सोवियत यूनियन ने भी भारतीय योजनाओं को ढालने में अपना योगदान दिया था। सन् 1965 के मध्य से ही, भारत को हथियारों के साजो सामान के इस मुख्य निर्यातक देश ने, सातवें और आठवें दशक के दौरान, भारतीय योजना आयोग का सोवियत योजना आयोग के साथ एकजूटता पूर्ण कार्य कर सकने के लिये कई समझौते किये थे। ताकि भारत के साथ एक प्रकार के साम्राज्यवादी संबंध को बनाये रखा जा सके, खासकर व्यापार और निवेश के मामलों में।

पश्चिमी ताकतों के ही 'समान' सोवियत यूनियन ने भी आर्थिक और सैनिक "सहायता" का उपयोग सिर्फ भारतीय संसाधनों की लूट के लिये ही नहीं किया बल्कि कूटनीति के एक औजार के रूप में भी किया। सन् 1971 में भारत सोवियत मैत्री करार पर दस्तख़त करने के एक वर्ष बाद ही, दोनों देशों के शासक वर्ग, भारत की आर्थिक योजनाओं को सोवियत यूनियन की योजनाओं की पूँछ से बांध देने में सहमत हुए और इसी आशय की रिपोर्टें तैयार करने के लिये गोस्प्लेन दल स्थापित किये गये। नवम्बर 1973 में, भारत में सोवियत यूनियन के उपराष्ट्रपति ब्रेझनेव के आगमन पर एक 15 वर्षीय भारत–सोवियत समझौते पर दस्तख्त किये गये, जिसे ब्रेजनेव द्वारा, "भारत–सोवियत सम्बन्धों में एक गुणात्मक विकास" बताया गया। अन्य चीजों के अलावा, इस समझौते ने सोवियत रूसी स्टेट प्लैनिंग कमीशन और भारतीय प्लैनिंग कमीशन के बीच, ज्यादा मेल–मिलाप को सुनिश्चित किया। नवम्बर 19, 1988 को दिल्ली में सोवियत राष्ट्रपति गोर्बाचेव और भारतीय प्रधानमंत्री की मुलाकात में इस बात पर सहमति प्रकट की गई कि हमें ऐसे कदम उठाने चाहिये जिससे "हम अपने विचारों को बुन सकें और संयुक्त कार्य योजना को गूंथ सकें।" लेकिन, तमाम पवित्र इच्छाओं के बावजूद भी,

फिर उस पर मंजूरी ली जा सके। वे फिर से दुबारा, यू. एस. सिक्रैटरी ऑफ अग्रीकल्चर – ऑरविल फ्रिमैन से रोम में मिले और उन्होंने वहाँ पर उनके साथ "विदेशी नीजि निवेशों – खासकर फर्टिलाईज़र्ज़ में इंसेटिव देने की योजनाओं समेत, नीतिगत प्रस्तावों के हर एक नुक्ते पर पुनर्विचार किया।"[16] जब भारतीय खाद्य मंत्री यू. एस. प्रेज़िडन्ट जोहनसन से मुलाकात के लिये गये, तब जोहनसन ने "जोर डाला कि सुब्रहमनियम् (प्रेजिडेन्ट जोहनसन द्वारा मंजूर की गई) इन नीतियों को अमरीकी कृषि सचिव ओरविलि फ्रिमैन के सामने एक कलमबद्ध समझौते के रूप में पेश करें।"[17] और हुआ भी यही : यानि जहाँ इशारा किया गया था वहीं पर भारत ने अंगूठा टेका।

भारत की खास बड़ी आर्थिक नीतियाँ, साम्राज्यवादी पूँजी के हित में, सामराजी मालिकों की देखरेख में ही निर्धारित की जाती हैं : वरना तो भारत की योजनाएँ खुद अपने आप को बस इनके अनुरूप ढालने का ही काम करती हैं जिसका अर्थव्यवस्था पर नियन्त्रण है, वो इन योजनाओं का नहीं बल्कि साम्राज्यवादी पूँजी जिसकी नुमाइंदगी पश्चिमी साम्राज्यवादी देश और जापान करते हैं और भारत की बड़ी बिचौलिया पूँजी है, जिनका नियन्त्रण भारतीय अर्थव्यवस्था पर है।

धीरे–धीरे, सन् साठ के बीच से ही लाइसेंसिंग अनिवार्यता खत्म करने, नियन्त्रणों में ढिलाई देने और अनियमन करने की एक नीति अपनाई जा रही है। लेकिन शुरुआती अस्सी के दशक में, इस प्रक्रिया को तेज कर दिया गया था, जब भारत के शासक वर्गों ने अ.मू.को. से पाँच बिलियन डॉलर एस. डी. आर. (S.D.R.) की मांग की (यानि तत्कालीन विनिमय दर के हिसाब से 5,200 करोड़ रुपये)। तब भारत सरकार और आई एम एफ के गुप्त वार्ताओं के कई–कई दौर चले थे। आख़िरकार आई.एम.एफ. ने कुछ शर्तें थोप ही दी। इसके साथ हुए भारत सरकार के समझौते की अनुपालना में उपरोक्त कर्ज़ को तीन किश्तों में ज़ारी किया जाना था। लेकिन दूसरी और तीसरी किश्त का जारी किया जाना भारत सरकार के इन शर्तों के अनुरूप संतोषप्रद ढ़ंग से कार्य करने पर निर्भर था– यानि आई.एम.एफ. के प्रति संतोषप्रद। इसके साथ ही इन थोपी गयी शर्तों में–ऊपरी वर्ग के लिये नहीं बल्कि सिर्फ आम जनता के लिये "मितव्ययिता कार्यक्रम"; देशी और विदेशी दोनों के ही निजी क्षेत्र को प्रोत्साहित किया जाना; उदारीकरण,–विदेशी पूँजी से और करीबी रिश्ता और रॉयल्टियों का ज्यादा खुला भुगतान; खाद्य और खाद में दी जा रही सब्सिडियों में कटौतियाँ; कृषि उत्पादों और सार्वजनिक सैक्टर के उद्यमों के उत्पादों आदि की जनहित में कम की गयी पूर्व कीमतों में अब

बढ़ोतरी किया जाना आदि शर्तें शामिल थी। भारत सरकार के वित्त मंत्री द्वारा 28 सितम्बर 1981 को अ.मु.को. प्रबंध निदेशक को भेजे गये पत्र में और इसके साथ नत्थी किये गये "स्टेटमेंट ऑफ इकनोमिक पॉलीसीज़" में इन बाध्यकारी शर्तों पर सहमति प्रकट की गयी थी।[18]

योजनाकारों के सारे तख़मीनों के बरखिलाफ़, मालों का आयात खासकर पूँजीमालों और अमीरों के उपभोग के लिये अय्याशी के मालों का आयात बढ़ा और इस तरह विदेशी पूँजी के साथ गठजोड़ कई गुना हो गया। औद्योगिक लाइसेंसिंग और कन्ट्रौलों के मद्देनजर यही "उदारीकरण" था। सन् 1983 में, गैर लाइसेंस शुदा सैक्टर में "निवेश सीमा" को तीन करोड़ से बढ़ा कर सामान्य रूप में 25 करोड़ कर दिया गया और पिछड़े इलाकों में स्थापित किए जाने वाले प्रोजिक्टों में इस "निवेश सीमा" को 1990 में 75 करोड़ कर दिया गया। चंद्रशेखर, जो कि एक बहुत ही छोटी अवधि के लिये भारत के प्रधानमंत्री बने थे, उन्होंने भी अवलोकित किया था कि औद्योगिक निवेश और उत्पादन का करीब 75 फीसद हिस्सा योजना मदों की सीमा के बाहर से जुटाया जाता है।[19]

अस्सी के दशक के दौरान, कैपिटल इश्युज़, लाइसेंसिंग आदि पर नियन्त्रण में लगातार ढिलाई देने, आयातों और निर्यातों के सीमा शुल्कों में कमी करने, निर्यातकों को दिये जाने वाले इंसेंटिव में बढोतरी करने, विदेशी विनिमय कानूनों में ढिलाई बरतने और इसी तरह के तमाम दूसरे मामलों में नरमी बरतने की वज़ह से भारत का व्यापार घाटा और भुगतान असंतुलन जो कि योजनाओं के इतिहास जितना ही पुराना है; बद से बदतर होता चला गया है; और इस तरह, भारत का बजट घाटा 1980-81 के 3,451 करोड़ रुपयों से छलाँग लगा कर 1989-90 में 12,149 करोड़ रुपये हो गया। इस सारी चीज ने, विदेशी कर्ज़े पर भारत की निर्भरता अपरिहार्य बना दिया। भारत पर विदेशी कर्ज़ा, रुपयों के अनुपात में पाँच गुना हो गया– 1980-81 के 13,479 करोड़ रुपयों से बढ़कर 1989-90 में 66,017 करोड़ रुपये और और इसी के साथ रुपये का अवमूल्यन भी होता चला गया : (80-81) दशक के शुरुआत में अमरीकी डॉलर के समतुल्य रुपये का मूल्य 7.908 रुपये से घटकर इसी (89-90) दशक के अंत में 16.923 रुपये हो गया। अस्सी के दशक में, औसत मुद्रा स्फीति दर 9 फीसद थी।

'और इस तरह से विकास' विनियोजन के क़रीब 40 सालों का अपरिहार्य परिणाम बस यही निकला है : भुगतान संतुलन की बढ़ती दिक्कतें; तेजी से बढ़ते विदेशी कर्ज़े, जिनमें भारी मात्राओं वाले कर्जों के लघु

योजना भी) का समूल मूल्यांकन करता है। और विदेशी सहायता प्रक्रिया से जुड़ा होने के कारण यह भारतीय योजनाओं से भी जुड़ जाता है और इस प्रकार अपने असर को महसूस कराता है।"

विश्व–बैंक और संयुक्त राज्य अमेरिका के अलावा, दूसरी पश्चिमी ताकतों और जापान भी भारतीय कार्यक्रमों को लागू किये जाने की प्रक्रिया की देखरेख, योजना निर्माण और संपूर्ण भारतीय अर्थव्यवस्था की दिशा तय कराने में अपनी भूमिका निबाहते हैं। ऐल्ड्रिज लिखते हैं : "आई बी. आर. डी. तथा यू. एस. ऐड (IBRD and US AID) जब–तब, भारत की संपूर्ण सहायता जरूरतों, उनके उपयोगों और इसके साथ ही विशेष प्रोजेक्ट्स के बारे में सतत् रिपोर्टें तैयार करने के लिये कई तरह के आर्थिक और तकनीकी अनुमानों का ब्यौरा तैयार करते रहते हैं। जर्मनी भी, भारत में अपने दूतावास के आर्थिक विभाग के जरिये कड़ी चौकसी रखता है। ब्रिटेन भी, भारत में अपने यूनाईटेड किंगडम हाईकमान के आर्थिक मिशन के मार्फत एक अनौपचारिक ढंग से ही सही परन्तु कड़ी निगरानी रखता है। असल में, सारे के सारे साहूकार मुल्क, किसी न किसी ढंग से भारत पर अपनी पैनी नजर रखते हैं।"

आखिर में हम, सी. आई. ए. द्वारा वित्तपोषित एम. आई. टी. संस्थान के सेंटर फॉर इंटरनेशनल स्टडीज द्वारा भारतीय योजनाकारों की तरफ से लिये गये एक काम की ओर इशारा करना चाहते हैं। इस संस्थान ने, सन् 1962 के मध्य में, भारतीय अर्थव्यवस्था के लिये एक बहुक्षेत्रीय योजना का मॉडल तैयार किया था... ...लेकिन भारत में नहीं, बल्कि कैम्ब्रिज, मैसाचुसेट्स में ! और मॉडल पर किये जा रहे काम की आर्थिक लागतों की भरपाई की जा रही थी अमेरिकी सरकार की ऐजेन्सी फौर इंटरनेशनल डिवलपमेंट द्वारा ! चौथी योजना के इस मॉडल को, एम. आई. टी. प्रशिक्षित दो भारतीय अर्थशास्त्रियों की मदद से पूर्ण होने के उपरांत इसे अमेरिका में प्रकाशित किया गया। और तब, अक्टूबर 1964 में, अमेरिका में भारतीय राजदूत, नेहरू के चचेरे भाई, बी. के. नेहरू को यह मॉडल एम. आई. टी. संस्थान में दिखाया गया, बी.के. नेहरू इण्डिया प्रोजिक्ट के मुखिया रौजान्स्टिन रौडन के भी अच्छे मित्र थे। इसके बाद, बी. के. नेहरू ने मॉडल की उत्साहपूर्वक तारीफ करते हुए प्लैनिंग कमिशन के तत्कालीन उपाध्यक्ष अशोक मेहता को इनके स्वीकार किये जाने की सिफारिश लिखी। लेकिन अचानक ही केन्द्र को इस प्रोजेक्ट का खात्मा कर देना पड़ा जब कलकत्ता में समीर सेन द्वारा संपादित साप्ताहिक 'नाऊ' में अपने द्वारा लिखे 25 दिसम्बर 1964 के संपादकीय में "सी. आई. ए. की खोजी शाखा के लंबे हाथ" के इस खेल का भाण्डा फोड़ कर दिया गया। भारतीय योजनाकार, हालाँकि खुद 'इस लंबे हाथ से' अनजान नहीं थे लेकिन सी. आई. ए. से संबंध का भाण्डा फूटने के बाद वे उलझन में जरूर फँस

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के तत्कालीन गवर्नर ने, घाटे की वित्त व्यवस्था के बारे में स्पष्टीकरण देते हुए कहा : "भारत में हम अपनी नीतियाँ, आई. एम. एफ. मिशन के मुखिया डॉ. एडवर्ड बर्नस्टीन की इन सलाहों पर आधारित कर रहे हैं कि घाटे की वित्त व्यवस्था कुछ मायनों में जरूरी भी है.....।"

इसी मुद्दे पर हजारी और मेहता लिखते हैं : "विदेशी विनिमय संकट (सन् 1956-57) के दौरान, ठोस आँकड़ों में ही नहीं बल्कि भारतीय योजना के आकार के लिहाज से भी, अमेरिकी सहायता भारी–भरकम हो गयी और समूची योजना प्रक्रिया में अधिक हस्तक्षेप की संभावना पैदा हो गयी। तभी, तीसरी योजना के प्रारंभ होने की पूर्व बेला में ढेरों अमेरिकी विशेषज्ञ भारत आ धमके.....उनमें थे मिलीकन, रौस्तव और जे. के. गालब्रैथ, जिनके मार्फत दूसरे तरीकों से भी तीसरी योजना और इसके घटकों में भी बड़े पैमाने पर अमेरिकी हस्तक्षेप हो गया।"

दिल्ली, अप्रैल 1961 में, गालब्रैथ जब अमेरिकी राजदूत का कार्यभार ग्रहण करने के बाद नेहरू से मिले तो नेहरू ने उनको जो कुछ कहा उसी बातचीत के मजेदार संस्मरणों में गालब्रैथ कहते हैं : मेरा नया काम उनकी सरकार के आर्थिक सलाहकार बने रहने में रुकावट नहीं डालता है। इस पर मैंने कहा कि रूकावट तो नहीं डालेगा मगर अब मेरी आवाज थोड़ी दबी हुई होगी....." यह ऐसा सम्बन्ध था जो अमेरिकी साम्राज्यवादियों और नेहरूओं को एकजुट रखता था और भारतीय नीति निर्माताओं (!!) की उन पर इतनी अधिक निर्भरता थी।

विश्व बैंक हर योजना की जाँच परख और उसकी प्रगति की देखरेख करता है; यहाँ तक की यह भारत सरकार के वार्षिक बजट की भी जाँच परख करता है और उसी की सिफारिशों पर पश्चिमी शक्तियाँ कर्ज़ मुहैया कराती हैं जिसकी भारतीय योजनाएँ इतनी ज्यादा मोहताज हैं। जैसा कि एल्ड्रिज कहते हैं कि विश्व बैंक "प्लैनिंग कमिशन में एक स्थापित सलाहकार का दर्जा रखता है"। वे आगे लिखते हैं : "भारतीय योजनाओं के मूल्यांकन और प्रशासन की स्थिति में सिवा संयुक्त राज्य के और कोई भी मुल्क ऐसा नहीं है जो किसी भी हालत में होने पर ऐसे हस्तक्षेप की वजह से बहुत ज्यादा राजनैतिक दिक्कत पैदा करेगा..... लेकिन इस बैंक में अमेरिकी प्रभाव के कारण, यह बैंक, भारत सरकार को प्रभावित कर सकने का एक अतिरिक्त अवसर अमेरिका को देता है। बात पर बल देने के लिए हजारी और मेहता को पुनः उद्धृत करें, "आई. बी. आर. डी. यानि विश्व बैंक ने; एक अन्तर्राष्ट्रीय एजेन्सी के रूप में, जिसे विशाल ऋण देने की संप्रभुता हासिल है, और जो भारत को पश्चिमी सहायता दिलवाने में दलाली और संयोजन करता है; भारत के आर्थिक विकास में एक खासी भूमिका हथिया ली है। अब, यही एक मात्र साहूकार है जो भारत की पंचवर्षीय योजनाओं (शायद वार्षिक

अवधि–उच्च ब्याज वाले कर्ज़े भी शामिल हैं, ऋण–भुगतान सेवाओं की भारी जिम्मेदारियाँ और विदेशी विनिमय का तीखा संकट; इस सबने भारत के शासक वर्गों को मुकम्मिल तौर पर आइ.एम.एफ. और डब्ल्यू. बी. के पूर्णतः आश्रित कर दिया है। लेकिन इन वर्गों ने अवाम की कीमत पर अपने संकट को हल करना चाहा है। अंतर्राष्ट्रीय पूँजी के पहरूओं आई.एम.एफ. और डब्ल्यू. बी. ने इनको इन मुश्किलों से उबारने के लिये जिम्मा लिया और भारत की सभी दक्षिण, मध्य और वाम संसदवादी पार्टियों द्वारा समान रूपसे प्रतिबद्धता दर्शाते हुए इन आर्थिक नीतियों को लागू किये जाने की शुरुआत की गई और जब तक कि कोई और व्यवस्था नहीं हो गई, तब तक योजनाकरण की आनुष्ठानिक कार्रवाही को भी अस्तित्वहीन कर दिया गया।

विकसित पूँजीवादी देशों पर, 1978-79 से ही मंदी की मार पड़ी हुई है। ये मुल्क, भारत जैसे तीसरी दुनिया के मुल्कों को और भी ज्यादा पूँजी मालों और लक्ज़री उपभोक्ता मालों को निर्यात करने के लिये लालायित थे, लेकिन वे इस बात पर बहुत ज्यादा अड़े हुए थे कि उनके निर्यातों पर लगी सारी बंदिशें हटा ली जाऐं और अन्ततः इस बात पर उनका समझौता भारत के बड़े बिचौलियों से कायम हो गया चूँकि, वे भी; औद्योगिक लाइसेंसिंग पद्धति, पूंजीगत मामलों के नियन्त्रणों से, जो कि अब उनकी राह में रोड़े डाल रहे थे, इनसे खीझे हुए थे। हालाँकि आज उनकी जो भी हैसियत बनी थी, वो हैसियत इन्हीं नियन्त्रणों की बदौलत ही बनी थी, इन्हीं नियन्त्रणों ने उनके उद्योगों के लिये मोनोपोलीस्टिक या ऑलिगोपोलिस्टिक बाज़ार निर्मित किया था और जो कि पहले इन्हीं ने मांगा भी था, हालाँकि वे ऊपरी तौर पर इसके ख़िलाफ थे; लेकिन ठीक यही चीजें अब बेकार की नुकसानदेह खरपतवार बन गई थी और उनके लिये क्लेशकर साबित हो रही थी। लेकिन असल में हुआ ये था कि अब 'समाजवादी पैटर्न' अपनी उद्देश्य पूर्ति कर चुका था। इस "लोकशाही विनियोजन" ने उनको कानूनी और गैरकानूनी दोनों ढंग से भारी वित्तीय संपत्तियों का गर्वीला स्वामी बना दिया था। अब उनके पास, ना सिर्फ मुल्क के भीतर पूँजी का अंबार जमा हो गया था बल्कि विदेशी बैंकों के गुप्त खातों में भी चोरी से छिपाये गये धन का अकूत ढेर जमा हो गया था। अब वे अपने कारोबार के फैलाव के सपनों को पूरा करने के लिये इसके कुछ हिस्से को सफेद धन के रूप में धोकर (Money Loundeving) वापस लाना चाहते थे। पहले की तरह ही, अब भी उनके पास, अपने सपनों को पूरा करने का एक ही तरीका था– साम्राज्यवादी देशों में आधारित ट्रॉंसनैशनल्ज़ के छुटके साझीदारों के रूप में काम करते हुए, राजकीय

स्वत्वाधिकार वाले बैंकों और अन्य वित्तीय संस्थानों से भारी इक्विटी और लोनों के मार्फत और विदेशी साझीदारों, उनके पूँजीमालों और टेक्नोलॉजिकल जानकारियों के द्वारा; वे पहले जिन उद्यमों को लगाने में ना–नुकुर करते थे और जिनके उत्पादों के लिये वे पब्लिक सैक्टर पर निर्भर रहा करते थे; उन्हें स्थापित करने में भी वे अब सक्षम थे। लाभकारी सावर्जनिक सैक्टर के उद्यम अब उनके लिये एक ललचाने वाली वस्तु थे और कि जिनको अब वो हड़प लेना चाहते थे।

तो इस तरह से, योजना के खास अंगों; नियन्त्रणों और प्रतिबंधों का सफाया करने वाली 'उदारीकरण' की हवा एक तूफानी हवा में बदल गयी। विश्व बैंक द्वारा दिस. 1989 में जारी एक रपट – *भारत : औद्योगीकृत अर्थव्यवस्था एक संक्रमण* ही भारत की 'नयी औद्योगिक नीति' का आधार बन गयी, जो कि पूर्वोक्त अप्रोच टू द ऐट्थप्लेन में निहित औद्योगिक नीति के दिशा निर्देशों के बरखिलाफ थी और जिसे तैयार करने में कमीशन को खासी मेहनत मशक्कत करनी पड़ी थी और जिसे कि कुछेक ही दिन पहले केन्द्रीय कैबिनेट ने पारित भी कर दिया था।[20] गैर पिछड़े इलाकों में स्थापित होने वाली सभी नयी यूनिटों के लिये फिक्सड असेट्ज में 25 करोड़ रुपयों और केंद्र की ओर से घोषित पिछड़े इलाकों में 75 करोड़ रुपयों तक के निवेश को डिलाइसेंसिंग करने के अलावा भी, 'नयी औद्योगिक नीति' ने सरकार की पूर्व आज्ञा के बगैर टक्नोलॉजी के मुक्त आयात की इज़ाज़त (बशर्ते कि विदेशी साझीदार को दी जा रही रोयल्टियाँ अपूर्व लूट–खसोट वाली न हो) और इक्विटी में खुद–ब–खुद 40 फीसद विदेशी निवेश की इज़ाज़त बख़्श दी।

भारत का संकट जैसे–जैसे गहराता गया, अ.मु.को., विश्व बैंक और ऐड इण्डिया कंर्जोटिअम के मेंबरों ने भारत की अर्थव्यवस्था में और अधिक उदारीकरण की मांग की– यानि– रुपये का तीव्र अवमूल्यन; विदेशी पूँजी के लिये और भी ज्यादा दरवाजा खोलना; पूँजीगत मालों का मुक्त आयात; सीमा शुल्कों में व्यापार व्यवहार के संबंध में ढिलाई देना; भारतीय पेटेन्ट कानूनों में रद्दोबदल और इसी ढंग की दीगर बातें और बेशक, इन मांगों के प्रति भारत के शासक वर्गों की प्रतिक्रिया बहुत ही सकारात्मक थी।

भारत सरकार के भुगतान संतुलन की समस्याओं के निराकरण के लिये स्टोप–गैप (Stop-gap) के रूप में सिर्फ 1.8 बिलियन डॉलर (करीब 3,250 करोड़ रुपये) का कर्ज़ा देकर, आई. एम. एफ. ने 29 जनवरी 1991 को एक विज्ञप्ति जारी करते हुए कहा कि "भारत सरकार, अप्रेल 1991-92 से शुरु होने वाले वित्तीय वर्ष के दौरान समायोजन की प्रक्रिया ज़ारी रखने

कार्यक्रमों में निवेश को उपुयक्त स्तर पर नहीं लाया जाता है.....तब तक निजी क्षेत्र का विकास निश्चित रूप से अवरूद्ध ही होगा.....मेरे एक मोटे अनुमान से, 12 बिलियन डालर की दूसरी पंचवर्षीय योजना के तुलनात्मक रूप से करीब 20 बिलियन डॉलर के निवेश कार्यक्रम के लिये, वास्तविक विदेशी सहायता तकरीबन पाँच या छः बिलियन डॉलर के बराबर बैठती है न कि सिर्फ दो या तीन बिलियन डॉलर.....संक्षेप में, मेरा निष्कर्ष यह है कि भारत के निजी क्षेत्र के लिये, पूँजी निर्यातक देशों की एक उदार नीति ज्यादा कारगर होगी, और असल में यह उदार नीति दीर्घकाल में भारत में विदेशी निजी पूँजी निवेश को प्रोत्साहित करेगी बजाए इसके कि हमारी तरफ से भारत के निजी क्षेत्र में जबरदसती विदेशी पूँजी निवेश की नीति थोपी जाये।

कैनेडी और बाकी लोग जबकि चीन और कौम्युनिज़म से लड़ने की गर्मजोशी से कसमें खा रहे थे, तब यह प्रस्ताव रखा गया कि अन्य पश्चिमी ताकतों और जापान के साथ ही, खुश्चेव के नेतृत्व में सोवियत यूनियन के साथ, संयुक्त राज्य अमेरिका को भारत की सहायता करने का भार उठाना चाहिये। उनका दृष्टिकोण था कि अकेले संयुक्त राज्य के लिये यह बोझ बहुत ही ज्यादा है। "रूस तथा साम्यवादी देश एवम् सहायता" विषय पर बोलते हुए यूजीन स्टैनली ने कहा, "मुझे तो लगता है कि हमें खुद से आगे आकर यह भी पूछना चाहिये कि क्या संयुक्त राज्य अमेरिका के हित के लिये यह एक अच्छी नीति नहीं होगी कि इसे और प्रोत्साहित किया जाय ? .....इस मामले पर आगे बढ़कर, क्यों नहीं संयुक्त राज्य यह पहलकदमी करे और क्यों नहीं संयुक्त राष्ट्र के राष्ट्रपति मिस्टर खुश्चेव को एक पत्र भेजें ? .....पत्र–व्यवहार की पहलकदमी इस बार हमें करनी चाहिये।" इस सम्मेलन की कार्यवाहियों के लेखक सैलिग हैरिसन की पुस्तक का हवाला दें तो कौम्युनिज़म और चीन के विरुद्ध पवित्र युद्ध में खुश्चेव नेतृत्व में सोवियत यूनियन 'अस्वीकृत ही सही पर एक वास्तविक साथी' है।

बी. के. नेहरू, अशोक मेहता, एच. वी. आर. आयंगर और कुछ दूसरे भारतीयों ने सम्मेलन में भारी भरकम विदेशी ऋणों और सहायताओं की याचना की और इसके साथ ही अमेरिकी शासक वर्ग के एक हिस्से की भारत के सार्वजनिक उपक्रमों के बारे में गलत मान्यताओं को दूर करने की कोशिश की। बी. के. नेहरू ने इस ओर इशारा करते हुए कहा, "असल में, भारत की विकास संबंधी गतिविधियों का खास बड़ा भाग निजी क्षेत्र की सहायता और प्रोत्साहन कार्यक्रम ही है।"

निक्सन ने कहा, "सिर्फ एक उदाहरण लें, हालाँकि मैं बर्लिन संकट की महत्ता को कम नहीं आँकूगा (जब पश्चिमी ताकतों और सोवियत यूनियन के बीच जंग की संभावना हो गयी थी) लेकिन मैं इतना तो कहूँगा ही कि मेरी नजर में भारत में जो भी कुछ होता है, अगले चंद सालों में, इसके आर्थिक विकास का मामला भी महत्त्वपूर्ण हो सकता है, या बर्लिन वार्ताओं के नतीजों से तुलनात्मक रूप से दीर्घावधि में और भी महत्त्वपूर्ण हो सकता है.....हमेशा ही हमें इस बात पर विचार करना चाहिये कि कैसे हम दुनिया के इस हिस्से में भी निजी पूंजी को आकर्षित कर सकें..... दोनों ही तरह की पूँजी (राजकीय एवम् निजी पूँजी) आवश्यक है, दोनों ही की अपनी जगह है।" सम्मेलन की कार्रवाई लिखने वाले सैलिग. एस. हैरिसन ने अपनी टिप्पणियों में लिखा "संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा विशाल मात्रा में दीर्घावधि निजी पूँजी निवेश हों, इस बारे में बहुत थोड़े लोगों को शंका है; फिर विस्तार की गति चाहे जो हो.....सम्मेलन कार्यवाही रिपोर्ट में उपराष्ट्रपति रिचर्ड एम. निक्सन के इस वक्तव्य को जोर डालकर लिखा गया है कि उपरोक्त व्यवहार में हमारे कई विदेश नीति संबंधी लाभ हैं अतः इन्हें भारत के साथ हमारे संबंधों में आधिकारिक रूप से आगे बढ़ाया जाना चाहिए।"

हैंस जे. मॉर्ग्रेनथाऊ का वक्तव्य था : "यह भारतीय प्रयोग मानव जाति के एक महान् अंश का महान प्रयोग है। और इसीलिये इस प्रयोग की सफलता संयुक्त राज्य के लिये खास फायदे में है।" वे आगे कहते हैं, "..... हमने अभी तक यह महसूस ही नहीं किया है कि भारत और संयुक्त राज्य के स्वार्थ कितने मिलते–जुलते हैं ?" इस अवसर पर मैक्स मिलिकन ने अपनी दो धारणाओं को प्रस्तुत किया : "मैं.....अपनी पहली धारणा में जोर देकर कहना चाहता हूँ कि भारत को विशाल परिमाण में विदेशी सहायता की जरूरत है ताकि वह अपने सकल घरेलू संसाधनों की पूर्ण सक्रियता संभव कर सके। *मेरा दूसरा विरोधाभास यह है कि भारतीय सार्वजनिक उपक्रमों को भी भारी मात्रा में विदेशी निजी पूँजी निवेश की आवश्यकता है* (बल–अनु.)। मेरा यकीन है कि दूसरी पंचवर्षीय योजना के तहत सावर्जनिक उपक्रमों में जो विभिन्न योजनाएँ संचालित की जा रही है, और जो तीसरी योजना मेंभी दर्शाई गई हैं और इसी दूसरी योजना में जो निजी क्षेत्र में गतिविधियाँ चलाने की आशा प्रकट की गयी है, ये दोनों ही क्षेत्र सार्वजनिक उपक्रम तथा निजी क्षेत्र एक दूसरे के पोषक हैं न कि प्रतिस्पर्धी। लेकिन मेरा यकीन है कि जब तक सार्वजनिक उपक्रमों में निवेश को उचित स्तर पर नहीं रखा जाता है..... जब तक भारी किस्म के सावर्जनिक उपक्रमों और सामाजिक कल्याण

के लिये कटिबद्ध है" मार्च 1991 में भारत के वित्तमंत्री ने संसद में घोषणा की कि, "एक बार फिर, मैं इस बात पर ज़ोर देना चाहूँगा कि 1991-92 के दौरान समायोजन (Adjustment) के प्रति मेरा वादा दृढ़ और अटल है।"[21]

जून 1991 में कार्यभार संभालने के फौरन बाद ही नयी सरकार ने जिसके प्रधानमंत्री नरसिंहराव थे; उन नीतियों की घोषणा की जो कि अ.मु. को. और विश्व बैंक की मांगों को और भी ज्यादा जोश से पूरा करने वाली थी और नये वित्त मंत्री ने आई. एम. एफ. प्रबंध निदेशक को 27 जनवरी 1991 को लिखे एक पत्र में इसी बात का यकीन दिलाया और इसके संग "मेमोरेण्डम ऑन इकनोमिक पालीसीज़ फॉर 1991/92-1992/93" नामक दस्तावेज़ को भी नत्थी किया और यह भी कहा कि पूर्वोक्त को और भी अधिक अच्छे ढंग से अंजाम दिया जाएगा। दुनिया की मुख्य मुद्राओं के मुकाबले भारत के रुपये का पहले ही 20 फीसद अवमूल्यन किया जा चुका था : इसकी कीमत रखी गई थी प्रति एक अमरीकी डॉलर के बराबर 25.95 रुपये। 24 जुलाई 1991 को नयी औद्योगिक नीति संसद में पेश करते हुए सुरक्षा, रणनीतिक मसलों और इसी तरह के दूसरे मामलों के अलावा बाकी सब मामलों के लिये लाइसेंसिंग अनिवार्यता समाप्त करने की घोषणा, जिन कुछ उत्पादों की आयात मात्रा में शनैः शनैः कटौती करने की ज़रूरत थी उनके तो उत्पादन कार्यक्रम तक को ही छोड़ दिया गया, उनके सरकारी नियन्त्रणों को खत्म करने की नीति की घोषणा, उच्च प्रिओरिटी इण्डस्ट्रीज में विदेशी इक्विटी के सीधे विदेशी निवेश को 51 फीसद तक करने (जबकि व्यवहार में इन प्रिओरिटी इण्डस्ट्रीज" (प्राथमिकता वाले उद्यम) में शामिल थे शीतल पेय, केंटुकी फ्राइडचीकन और इसी तरह की दूसरी चीजें) के साथ ही साथ "मूलरूप से निर्यात गतिविधियों में लगी हुई व्यापारिक कंपनियों" को मंजूरी देने का यक़ीन दिलाया; विदेशी टेक्नोलॉजी का गर्मजोशी से इस्तकबाल किया गया और उन्हें बहुत ही लुभावनी शर्तें पेश की गयी; निजी क्षेत्र को प्रोत्साहित किया गया कि वे अब उन क्षेत्रों में भी प्रवेश करें जो कि पहले सिर्फ सावर्जनिक क्षेत्रों के लिये आरक्षित थे; नुकसान उठा रहे सार्वजनिक उद्यमों को बंद करने और नफा देने वाले सावर्जनिक उद्यमों को सीमित रूप से निजी करने का वादा किया गया; एकाधिकार एवम् बाधित व्यापार व्यवहार अधिनियम (MRTP) को संशोधित करते हुए एकाधिकारी घरानों को बेखटके प्रगति कर सकने का वादा किया गया।[22]

संक्षेप में, नयी आर्थिक नीति के खास अंश ये हैं : रुपये का तीव्र अवमूल्यन– ताकि भारत के संसाधनों का बहाव विदेशों की ओर हो जाए

क्योंकि तब आयात महँगे और निर्यात सस्त हो जाऐंगे; विदेशी ऋण का स्फीतिकरण; (स्फीति कर दबावों को बढ़ाना; वास्तविक मजदूरी में कमी, और इस तरह से अमीरों को ज्यादा अमीर और गरीबों को ज्यादा गरीब बना दिया जाए; नियमन पद्धति को हटाया जाना (जिसके बगैर प्लैनिंग अर्थहीन नहीं हो जाती है); भारतीय अर्थव्यवस्था को साम्राज्यवादी देशों की अर्थव्यवस्था के साथ नत्थी किया जाना ("मेमोरेण्डम फॉर इकनोमिक प्लीसीज़ फॉर 1991/92-1992/93" में कहा गया था कि "हमारी रणनीति है– हमारी अर्थव्यवस्था के अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के साथ एकीकरण को बढ़ावा देना") "व्यापार उदारीकरण"; विदेशी पूँजी और विदेशी टक्नॉलोजी के लिये ऑपन डोर पॉलीसी; मुक्त आयातों के लिये सीमा शुल्कों को और भी ज्यादा नीचे लाना और इन पर लगे अन्य प्रतिबन्धों को हटाना ("खासकर पूँजी मालों और कच्चे मालों के लिये", धीरे–धीरे "लाइसेंसों और मात्रात्मक प्रतिबन्धों" का खात्मा करना) निर्यात बढ़ोतरी के लिये हर मुमकिन कोशिश; इजारेदार घरानों की बेरोक–टोक तरक्की; सार्वजनिक उपक्रमों को आवंटित बजट प्रावधानों में कमी लाना और उन्हें अक्रियाशील बना देना; बीमार उद्योगों की तालाबंदी और नफा देने वाले उपक्रमों के निजीकरण की शुरुआत; सार्वजनिक क्षेत्र के लिये पूर्व आरक्षित क्षेत्र का अनारक्षण करना; मुद्रा नीति में कसावट; सामाजिक कल्याण, स्वास्थ्य, शिक्षा आदि मामलों के खर्चों में कटौती करना; खाद्य और खाद पर धीरे–धीरे सब्सिडियाँ कम करना; खाद्य–खाद, पैट्रोलियम उत्पादों और इसी तरह की दूसरी चीजों पर लागत कीमतों में भारी बढ़ोतरियाँ; श्रम कानूनों में बदलाव और "एक्ज़िट" नीति तय करना जिससे नियोक्ता अपने श्रमिकों को रिट्रैंच (नौकरी से निकालना) कर सकें और अपने उद्यमो की आजादी से तालाबंदी कर सकें; वित्तीय क्षेत्र का पुनर्गठन; धीरे–धीरे, रुपये की मुक्त परिवर्तनीयता के लिये कदम उठाना।[23]

ये कदम जहाँ अवाम के बहुत ही बड़े तबके को बर्बाद करते हैं वहीं दूसरी ओर ठीक यही कदम साम्राज्यवादी पूँजी और भारत के बड़े बिचौलिया पूँजी के मुफादों को पूरा करते हैं और उनके विस्तार के सपनों को पूरा करने में मदद पहुँचाते हैं। भारत के बड़े बुर्जुआजी ने विदेशों पूँजी और टेक्नोलॉजी के मुक्त आयात का स्वागत किया और उनके शीर्ष संगठनों में फिक्की, एसोकेम और सी. आई. आई. (FICCI, ASSOCHAM and CII) ने इन कदमों की जोरदार ढंग से तारीफ की। लेकिन इसी तबके के एक हिस्से को डर है कि नयी आर्थिक व्यवस्था में ज्यादातर मामलों में ज्यादा ताकतवर मल्टिनैशनल कार्पोरेशनों से मुकाबला होने और उसमें न टिक सकने की वज़ह से शायद

बकौल सी. पी. भांबरी, "भारत के लिए तो, कंर्जोटियम की स्थापना का सार बस यही निकलता है कि पूंजीवादी मुल्कों ने भारतीय अर्थव्यवस्था के कर्त्ता–धर्ता की जिम्मेवारी खुद पर डाल ली है ताकि इसे संकट की स्थितियों से उबारा जा सके। और विश्व बैंक, आर्थिक मंत्रालय, भारत का योजना आयोग और ऐड टू इण्डिया क्लब के सदस्य, आपस में गलबहियाँ डाले हुए, अपने–अपने लक्ष्यों और हितों को साधने की मुहिम में कंधे से कंधा भिड़ाकर जुटे रहते हैं।"

कमेटी फोर इंटरनेशनल ग्रौथ, यू.एस.ए. द्वारा मई 1959 में, वाशिंगटन में *भारतीय संकट* विषय पर एक सम्मेलन प्रायोजित किया और उपप्रायोजक थे एम. आई. टी. का अंतरराष्ट्रीय अध्ययन केन्द्र, द एशिया फाउण्डेशन, द स्टेन्फर्ड रिसर्च इंस्टीट्यूट और द नेशनल प्लैनिंग एसोसिएशन; तथा अन्य सहयोगी प्रायोजकों में थे स्टैन्डर्ड बैकम ऑईल कम्पनी, बैंक ऑफ अमेरिका, कैजर इंजिनिअर्ज ऑवरसीज़ कॉर्पोरेशन तथा मर्क शार्प एवम् डॉहमी इंटरनेशनल। अमेरिकी भागीदारों में, अन्य खास अमेरिकी लीडरों के अलावा, तत्कालीन उपराष्ट्रपति तथा बाद में राष्ट्रपति बने रिचर्ड निक्सन, सिनेटर जोन एफ. कैनेडी जो बाद में अमेरिकी राष्ट्रपति बने, जोंन डी. रॉकफेलर थर्ड; हबर्ट एच. हम्फ्री, ऐवरिल हैरिमन, हैंस जे. मोर्गेनयाऊ, मैक्स. एफ. मिलिकन और चैस्टर बोअल्ज़ और भारतीय पक्ष की ओर से भाग लिया अमेरिका में भारतीय राजदूत एम. सी. छागला, वांशिगटन में भारत के आर्थिक मामलों के कमिश्नर बी. के. नेहरू, भरत राम, अशोक मेहता, आई. जी. पटेल, रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के तत्कालीन गवर्नर एच. वी. आर. आयंगार आदि ने। सम्मेलन में कैनेडी ने कहा, "पूरब में नेतृत्व के लिये चीन और भारत के बीच की जंग ज्यादा और कोई भी ऐसा मुद्दा नहीं है जो हमारा ध्यान खींचे ..... साफ तौर से इस टकराव का नतीजा हमारे मुल्क की हिफाजत और अपना रूख कायम करने पर असर डालेगा .....। जब तक भारत, कम से कम चीन के बराबर, आर्थिक ठहराव से विकास की ओर संक्रमण करने की क्षमता का प्रदर्शन न कर दे.....तब तक, समूचे *मुक्त विश्व* को, एक गंभीर पिछड़ाव को सहना होगा। और खुद भारत, कुण्ठा और अस्थिरता में जकड़ जाएगा.....*और लाल चीन की रुकावट के रूप में, इसकी भूमिका* का अन्त हो जाएगा.....और कौम्युनिज़्म, अपनी महानतम रक्तहीन विजय हासिल कर चुका होगा। इसलिये, इस संकट की प्रकृति के बारे में कोई गलती नहीं होनी चाहिए..... खतरे के साथ ही, अवसर की पहचान के बारे में। *और इस संघर्ष में, हमारी हिस्सेदारी की आपात्कालीन जरूरत के बारे में भी, कोई गलती नहीं होनी चाहिये।*"

मैक्स मिलिकन और डब्ल्यू. डब्ल्यू. रौस्तव ने, पूर्व विवेचित "*एक प्रस्ताव : प्रभावी विदेश नीति की कुँजी* में प्रस्तावित किया था कि अल्पविकसित देशों को अनुदान या ऋण देना, अमेरिकी विदेश नीति की एक असरदार चाबी है।

"मदद के लिये जरूरी माहौल बनाने में, जनता से लिया गया कर्ज़, विकास वृद्धि के साथ–साथ निजी निवेश मार्ग को भी चौड़ा और साफ कर देता है।" उनकी धारणा में श्रम के अन्तरराष्ट्रीय विभाजन को बढ़ावा देना चाहिये : अल्पविकसित देशों को "फैलते बाजारों" और "खाद्य एवम् कच्चे मालों के संसाधन स्रोतों" के रूप में पश्चिमी ताकतों को अपनी सेवाएँ देनी चाहिये। मिलिकन और रौस्तव की ओर से दूसरा प्रस्ताव यह था कि "*यह एक मूल तथ्य है कि (आधिकारिक ऋणों को दिये जाने की भाँति ही) आर्थिक कार्यक्रम अल्पविकसित क्षेत्रों के राजनैतिक विकास पर प्रभाव डालने के लिये हमारे असरदार औजार हैं*' और उनके तीसरे प्रस्ताव में, *अल्पविकसित देशों के आर्थिक विकास में भागीदारी करने से संयुक्त राज्य अमेरिका को फौजी लिहाज से भी फायदा होगा।* और लागतें बहुत ही कम होगी उस अनुपात से जो कि हमें खर्च करनी पड़ेगी उन हालात से निपटने में, जिन्हें बिगड़ने दिया गया जैसे दक्षिणी कोरिया और इण्डोचाईना में या फिर ज्यादा खर्च करना पड़ेगा अगर वे शुरू हो गईं। *ऐसे किसी भी कार्यक्रम की कुल कीमत तो सीमित युद्धों को चलाने की लागतों के मुकाबले निश्चित रूप से नगण्य ही होगी।*"

अमेरिकी पहल पर, विश्व–बैंक के संचालन में पश्चिमी ताकतों का एक कंर्जोटियम–ऐड इण्डिया कंजोर्टियम (जिसे दुबारा, एक बहुत ही बेहूदा मजाक के रूप में, 1994 में, इण्डिया डवलपमेंट फोरम नाम दिया गया) की स्थापना 1958 में की गई ताकि भारतीय शासक वर्गों द्वारा अपनी योजनाओं को लागू करने में, उन्हें वांछित कर्ज़े दिए जा सकें। ये कर्ज़े, विश्व बैंक और कंर्जोटियम के अलग–अलग सदस्यों द्वारा उस योजना के पूर्ण पुनरावलोकन, सहमति और उसकी उन्नति को देख चुकने के बाद वार्षिक आधार पर स्वीकृत किये जाते हैं। विश्व–बैंक, योजना की एक विस्तृत पुनरावलोकन तथा मूल्यांकन रिपोर्ट तैयार करता है, जिस पर आई. बी. आर. डी. एवम् भारत विचार–विमर्श करते हैं। फिर, कंर्जोटियम के अलग–अलग सदस्य योजना पर बहस करते हैं, और इसी वक्त जोर दिये जाने वाले मुद्दों, प्राथमिकताओं और लक्ष्यों को परिवर्तित करने के सुझाव दिये जाते हैं।"

उनके उद्योग इन्हीं कॉर्पोरेशनों के द्वारा निगल लिये जाऐंगे। पर इस डर के बावजूद भी, वे छुट भैये–ताबेदारों के रूप में अपने विदेशी साझीदारों के समान ही फलने–फूलने की उम्मीद करते हैं। 11 फरवरी 1995 को फिक्की के तत्कालीन अध्यक्ष एस. के. रूंगटा ने मद्रास में कहा कि "*रणनीति यह होनी चाहियें कि प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का स्वागत किया जाना चाहिये मगर इसमें, भारतीय साझीदारों के साथ साझा उपक्रम स्थापित करने (की शर्त अनु.) से जोड़ा जाना चाहिये।*' भारत की सबसे बड़ी निर्माण कंपनी हिंदुस्तान कंस्ट्रक्शन कंपनी के चैयरमेन और मैनेजिंग डिरेक्टर ने बिजनिस स्टैण्डर्ड के एक नुमाईंदे को बताया कि "*हालांकि बहुराष्ट्रीय निर्माण कंपनियों का ख़तरा मौजूद है मगर हम इस ख़तरों को रणनीतिक गठजोड़ों से कम कर रहे हैं।*' मिसाल के तौर पर, हमारे पास इटली के इम्प्रेजाइल के साथ हिमाचल प्रदेश में नैफ्था जाकरी हाइड्रोइलैक्ट्रिक प्रोज़िक्ट के एक हिस्से के लिये एक साझा उपक्रम मौजूद है.....*हालाँकि यह बहुत मुश्किल होगा और यह आईंदा 10-15 सालों तक मौजूद रहेगा, मगर फिर भी कुछ विदेशी फर्मों को हमारी ज़रूरत महसूस होगी जो कि भारत में अपने आप को स्थापित करना चाहेंगी।*"[25] भारत के ये बड़े बुर्जुआजी ही असली बिचौलिये हैं जो कि यह उम्मीद रखते हैं कि ट्राँसनैशनल्ज़ इन्हें उनकी सेवा टहल करने की इज़ाज़त देंगे और इस तरह उनकी सेवा टहल करते हुए उन्हें आशा है कि वे मुल्क और अवाम की कीमत पर ही सही पर कुछ खुद की भी आर्थिक सेवा कर पाऐंगे।

भारतीय शासक वर्गों द्वारा लागू की जाने वाला इन आर्थिक नीतियों को अ.मु.को. और विश्व बैंक द्वारा वांशिगटन में निर्धारित किया गया है। इनमें से कुछ पलीसीज की पुख्तगी, सीमा शुल्क एवं व्यापार पर आम सहमति (गैट, जिसे अब विश्व व्यापार संगठन (W.T.O.) के नये नाम से जाना जाता है) ने की और वित्तीय क्षेत्र को विदेशी पूँजी के लिये खोला है और 'बौद्धिक संपदा अधिकारों' की हिफाज़त के नाम पर कुछ ऐसे कानून कायदे जोड़े हैं कि जिनसे तयशुदा तौर पर साम्राज्यवाद की प्रभुता में और प्रबलता आयेगी; खास कर भारतीय कृषि और दवा उद्योगों में।

भारतीय अर्थव्यवस्था के हरेक पहलू पर असर डाल रही इन आर्थिक नीतियों को भारतीय शासक वर्गों द्वारा लागू करने की जिम्मेदारी ले चुकने के बाद, क्या अब भी कोई जगह बाकी बची हुई है ? प्लैनिंग नाम की कसरत के लिये? क्या भारतीय योजनाओं का भारतीय अर्थव्यवस्था पर जरा सा भी अंकुश या नियन्त्रण है ?

"योजना के उभरते हुए मुद्दे" नामक एक दस्तावेज़ में खुद प्लैनिंग कमीशन ने यह कुबूल किया था कि प्लैनिंग प्रोसेस का सारतत्व ही क्षरित हो

चुका है। इसके बावजूद भी इसने बड़ी ढिढाई से ये दावा किया कि "इसके बावजूद भी, इसके पास अब भी एक महती भूमिका शेष बची हुई है।" और हमेशा की तरह ही, आठवीं योजना 1992-97 रोजगार पैदा करने ("सदी के आखिर तक लगभग पूर्ण रोजगार के स्तर" की प्राप्ति); "प्राथमिक शिक्षा का सार्वभौमीकरण", सन् 2000 तक "सबके लिये स्वास्थ्य" और इसी तरह के जनकल्याण की बातों के लिये ज़बानी जमा खर्च करती है और इसी एक साँस में "नियन्त्रण और नियमन पद्धति" और "मात्रात्मक आयात प्रतिबंध और प्रशुल्क का खात्मा करने; "अक्षम सार्वजनिक इकाइयों की तालाबंदी आदि के लिये आई. एम. एफ. और विश्व बैंक के हुक्मों की तामील से होने वाले फायदों की तारीफ भो कर दी जाती है। इसका कथन है कि "योजना और बाजार के तन्त्र को इस ढंग से जुड़ जाना चाहिये कि इससे एक दूसरे को संपूर्णता देने वाला सुमेल हासिल हो जाए।"[26] मगर मुश्किल ये है कि हालाँकि बाजार तन्त्र बड़ी पूँजी के फायदों के लिये सरकारी दखल की जरूरत तो महसूस करता है मगर फिर भी यह योजनाकारों के घोषित लक्ष्यो से निर्देशित होने से इंकार करता है। योजनाकाल के इन बीते सालों में "मार्केट मैकैनिज़म" के अलमबरदारों ने, अपनी मौजूदा हालत को हासिल करने के लिये लाइसेंसों, नियन्त्रणों, सार्वजनिक उपक्रमों, टैक्सनीति, ऋणनीति और इसी तरह के दूसरे सरकारी हस्तक्षेपों का उपयोग किया था। लेकिन उन्होंने खुद की लगातार होती वृद्धि के साथ, इन कंट्रोलों और रैग्युलेशनों का जी भरकर ध्वँस किया है। लेकिन, आज तो वे इन्हें जड़–मूल से ही साफ किये जाने की मांग कर रहे हैं क्योंकि अब, साम्राज्यवादी पूँजी की एक शाख के रूप में उनकी और भी ज्यादा तरक्की में इनसे रुकावटें पैदा हो रही हैं। तो आखिर सच्चाई यही है कि मार्केटमैकेनिज्म योजना पद्धति के साथ जुड़ने से इंकार कर रहा है।

हमारे योजनाकारों ने, अपनी प्लैनिंग कसरतों को वर्णित करने के लिये एक नये मुहावरे का इजाद किया है। प्लैनिंग कमीशन के उपाध्यक्ष प्रणव मुखर्जी ने, आठवीं योजना की भूमिका में कहा : "बदले हुए हालातों की तर्ज पर ही, हमने प्लैनिंग कमीशन के कामकाज को दुबारा से परिभाषित किया है, अत्यधिक केंद्रीकृत योजना पद्धति (सेंट्रलाइज्ड प्लैनिंग) से हटकर, अब हम धीरे–धीरे निर्देशात्मक प्लैनिंग की ओर बढ़ रहे हैं।"[27] इस योजना का ये भी कहना है : "ये सुधार हमें अर्थव्यवस्था के भूमण्डलीकरण के बढाव की ओर ले जाएंगे और साथ ही साथ हमारी अर्थव्यवस्था के विश्व अर्थव्यस्था के साथ एकीकरण की दिशा में भी ले जाऐंगे। उद्योगों को दी गई स्वतन्त्रता और लचीलेपन से, उद्योग अपनी प्रतिस्पर्धात्मक क्षमता का अधिकतम विकास

विश्वविद्यालयों तथा भारत सरकार के साथ ही संयुक्त एम. आई. टी., भारत प्रोजेक्ट्स के विकास हेतु सलाह मशविरे और सूचना का आदान–प्रदान सुनिश्चित हो सके। एम. आई. टी. केन्द्र (MIT-CIS) ने इस बात पर रजामंदी जाहिर की कि वह भारतीय विद्वानों और अफसरों को अमेरिका में ट्रेनिंग देने की योजना भी बनाएगा।

फोर्ड फाउण्डेशन और एम. आई. टी. सेंटर "योजना आयोग के गुप्त राजकीय सलाहकार" के तौर पर काम करते थे और उन्होंने भारतीय योजनाओं के निर्धारण में एक खास रोल अदा किया। रोजेन के मुताबिक, "वह मुख्य आर्थिक गतिविधि जिसमें विदेशी अर्थशास्त्री और भारतीय नीति निर्माता आपसी सहयोग से काम करते थे, वह थी भारत की योजनाओं को बनाना और इन योजनाओं को लागू करने में वांछित संभावित विदेशी सहायता राशि का पूर्वानुमान लगाना.....भारत के मद्देनजर, अमेरिका और विश्व बैंक की नीतियों तथा भारत की घरेलू नीतियों के निर्धारण में, सेंटर का योगदान रहता ही था।" अमेरिकी कंट्रोलर जनरल के लफ्जों में, "योजनाओं और बजटों पर संयुक्त विचार–विमर्श जैसे कुछ लिहाजों से तो कार्यक्रम सहकारिता पूर्ण रहा है....."

सन् पचपन के बाद जब भारतीय शासक वर्गों को तीव्र विदेशी विनिमय संकट का सामना करना पड़ा और दूसरी पंचवर्षीय योजना की किस्मत मंझधार में फँस गई, तब अमेरिकी साम्राज्यवादी ही इसकी रक्षा के लिये आगे आये थे।

प्रसिद्ध अमेरिकी त्रैमासिक पत्रिका "फॉरेन अफेअर्ज" में एम. एफ. मिलिकन और डब्ल्यू. डब्ल्यू. रौस्तव ने लिखा : "राजनैतिक और रणनैतिक तौर पर तो भारत, आबादी के तुलनात्मक दृष्टिकोण से भी कहीं ज्यादा अहमियत रखता है। भारत के. विकास कार्यक्रमों के प्रयासों की कामयाबी और नाकामयाबी का असर सेलीबीज से लेकर मोरक्को तक की घटनाओं के मार्ग पर असर डालेगा.....आर्थिक और तकनीकी कारणों के ऐसे दबाव हैं कि क्यों नहीं इस वक्त हम, भारत के आकार से भी कहीं बड़ा भाग उसकी पूंजीगत सहायता करने में, केन्द्रित करें। उन्नति की प्रक्रिया के हरेक चरण में, बाहरी मदद और बाहरी संसाधनों की उपलब्धता, महत्वपूर्ण है। लेकिन इस प्रक्रिया में एक ऐसा नाजुक पल होता है, जिसमें भारत अब पहुँच गया है, जिसमें पर्याप्त मात्रा में विदेशी पूंजी और वो भी दीर्घावधि के लिये, भविष्य के घटनाक्रम की एक निर्णायक कुँजी बन जाती है।"

सहकारिता और वो भी सामाजिक और आर्थिक ढांचे में आवश्यक बदलाव लाये बगैर, लोकप्रिय जन भागीदारी की बातें; असल में समानता के मुद्दे को दरकिनार किये जाने की ही एक कोशिश है– इन सुधारवादी नीतियों की नाकामयाबी की एक बड़ी वजह गैरबराबरी के मुद्दे को टाले जाने की कोशिशें ही हैं। संयुक्त राष्ट्र मूल्यांकन मिशन के भारत आए विशेषज्ञ दल ने इसे यूँ प्रकट किया था, "साहूकार और कर्ज़दार, जमींदार और बटाईदार जो कि फसल पैदावार के सारे खर्च उठाता हुआ भी सिर्फ आधी फसल ही हासिल करता है, के बीच वास्तविक सामुदायिक हितों की स्थापना, वाकई, स्पष्ट रूप से आसान नहीं है।"

यहाँ हम यह भी जोड़ सकते हैं कि नेहरू की 'क्रांति' बिल्कुल ही नाकाम तो नहीं रही थी। "कुछेक अमेरिकियों और कुछेक हिन्दुस्तानियों को करीब लाते हुए" भी इस इंकलाब ने जमींदारों और साहूकारों के हितों को एकताबद्ध किया, क्योंकि सिर्फ वही एकमात्र थे जो सामुदायिक कार्यक्रमों से, उनमें लगाये सरकारी पैसे से और सरकार द्वारा स्थापित ऋण सहकारी समितियों और पंचायतों जैसे संस्थानों से फायदा उठाने में काबिल थे।

मैसाचुसेट्स इंस्टिट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी (MIT) द्वारा 1951 में स्थापित किये गये सेंटर फॉर इंटरनेशनल स्टडीज (CIS) ने अपनी गतिविधियों के एकमात्र क्षेत्र के रूप में भारत को चुन लिया और अमेरिकी केन्द्रीय गुप्तचर शाखा (CIA) के उपनिदेशक, मैक्स मिलिकन, जो कि उपरोक्त केन्द्र के निदेशक बनने के लिये सी.आई.ए. से अपनी बदली करा आये थे, इसके मुखिया बने। इसे अमेरिकी सरकार से और खास तौर पर सी.आई.ए. और फोर्ड फाउण्डेशन द्वारा फण्ड दिया जाता था। रोजेन लिखते हैं कि *अंतरराष्ट्रीय अध्ययन केन्द्र (CIS-MIT) ने "सुरक्षा संबंधी मामलों के मद्देनजर भारत के विकास की अहमियत पर जोर दिया" और यह माना कि "अमेरिका का काम, भारत के भविष्य–निर्माता का है, क्योंकि चीन में 'नाकामी' के पीछे इसकी निष्क्रियता ही है। इसकी यह धारणा सही थी कि "अमेरिकी और भारतीय नीति निर्माताओं के बीच हितों का एक ही बिंदु पर मिलाप हो रहा था।"* केन्द्र ने भारतीय राजदूत जी. एल. मेहता और "भारतीय योजना के एक मुख्य स्तंभ" प्रफेसर महलनोबीस से संपर्क स्थापित किया। सन् 1953 में सी. आई. ए. के भूतपूर्व उपनिदेशक मिलिकन की भारत यात्रा 'जोरदार ढंग से कामयाब' रही और उन्होंने 'भारतीय अधिकारियों से शानदार संपर्क' स्थापित कर लिया था। रोज़ेन को उद्धृत करें तो, "(मिलिकन की यात्रा के दौरान) ऐसी पद्धति अपनाई गईथी कि आपस में एम. आई. टी., भारतीय

कर सकेंगे। इस पृष्ठभूमि में, मात्रात्मक लक्ष्यों पर जोर कम रहेगा और प्लैनिंग और भी ज्यादा निर्देशात्मक (इण्डिकैटिव) बन जाएगी।"[28]

माना कि ये मुहावरा नया है; लेकिन पिछली योजनाएँ यदि "इंडिकैटिव" नहीं थी तो फिर और क्या थीं ? उन्हें अमल में लाने के लिये कोई भी सरकारी अमला नहीं था, कोई भी हुकुमनामा नहीं था जैसा कि हम पहले ही रेखांकित कर आये हैं कि उपलब्ध संसाधनों और अधिकांश निवेश फैसलों को इस प्राथमिकता के आधार पर तय किया जाता था कि जिसमें देशी और विदेशी बड़े पूँजीशाहों को ज्यादा से ज्यादा फायदा होता था और इन संसाधनों के एक बड़े हिस्से के लिए योजनाकार हमेशा ही विदेशी साहूकारों पर निर्भर रहा करते थे। और भारतीय योजनाओं में यही तथ्य ज्यादा बढ़कर अहमियत रखता है कि आम जनता और देश को विदेशी स्रोतों से हासिल किये संसाधनों की मात्रा से, भारी कीमत चुकानी पड़ रही है। स्पष्टतः भारतीय योजनाओं की कार्यान्विति, एक बड़े अंश में, देशी और विदेशी बड़े उद्योगपतियों के साथ ही साथ साम्राज्यवादी कर्ज़ खोरों पर निर्भर थी और इनके इरादे जरा भी परोपकारी नहीं थे क्योंकि वे कर्ज देते ही इसलिये थे ताकि इसको खर्च करने के तरीकों पर भी नियन्त्रण रख सकें। असली नियन्त्रक भारतीय योजनाएँ नहीं थी, बल्कि यही थे वो लोग जो कि भारतीय अर्थव्यवस्था को नियन्त्रित करते थे, भारतीय योजनाओं ने तो सिर्फ उनके द्वारा निर्धारित नीतियों के अनुसार हूबहू चलने की कोशिशें ही की हैं।

भारतीय योजनाओं में हमेशा से ही एक अवास्तविकता रही है। उनके उद्देश्य कभी भी पूरे नहीं किए गए हैं। आज जो ये दावा किया जा रहा है कि आठवीं योजना के समूचे जी.डी.पी. लक्ष्यों को हासिल किया जा चुका है और कि असल में उनसे भी आगे निकला जा चुका है, मगर असल में यह समूचे जी.डी.पी. आँकड़ों की सिर्फ धोखेबाजी और बेमानीपन को ही रेखांकित करता है। असलियत तो ये है कि शिक्षा, स्वास्थ्य और सामाजिक सेवाओं पर योजना खर्च में कमी के अलावा भी अत्यधिक महत्वपूर्ण इंफ्रा स्ट्रक्चरल उद्योगों में भी कमोबेश यही हालत है। प्लैनिंग कमीशन की ये तमाम करामातें बेमानी है क्योंकि अर्थव्यवस्था को अ. मु. को.; विश्व बैंक और विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यू. टी. ओ.) जैसी ताकतें नियंत्रित करती हैं। लेकिन लोगों को ये सब्ज बाग दिखाने में कामयाब हो जाती है। प्रचार के एक औजार के रूप में चाहे इसका थोड़ा–बहुत उपयोग हो सकता हो; लेकिन ये इस लायक जरा भी नहीं है कि इन्हें योजना के नाम से भी पुकारा जाये।

तो यह इन योजनाओं में खींचा गया विकास रणनीति का खाका ही है जो कि अवाम की जिन्दगी का अभिशाप है। कुछ ऐसा ही लिखा है

एण्ड्रैगुण्डर फ्रैंक ने, लाटिनी अमेरिका के बारे में टिप्पणी करते हुए : "जैसा कि (चिली के) विदेश मंत्री वाल्ड्ज ने प्रैजिडन्ट निकसन से कहा; और जिसके बारे में अमरीकी वाणिज्यिक विभाग और इ. सी. आर. ए. (लाटिन अमरीकी आर्थिक कमीशन) ने विस्तृत दस्तावेज तैयार किये हैं, *ठीक–ठाक तौर पर यह विदेशी निवेश और ऐड या बाहरी सहायता ही है जिसने न सिर्फ लाटिन अमरीका के मौजूदा औपनिवेशिक ढांचे को और वाणिज्यिक और भुगतान संतुलन संकट को पैदा किया है, बल्कि इस किस्म की देशी अर्थव्यवस्था को और अपरूप वर्गीय संचरना को जनमने वाले अधोविकास को भी जनमा है.....साम्राज्यवादी महानगरीय देशों से जितनी ही ज्यादा बाहरी सहायता हासिल होती है, लाटिन अमरीकी देशों का उतना ही ज्यादा अधोविकास होता चला है।*"[29] फ्रैंक जो भी कुछ कहते हैं, यह भारत के लिये भी उतना ही सच है। अगर भारतीय जन खुद ही अपनी किस्मत सँवारने, संघर्ष करने और जीतने की हिम्मत करे, सिर्फ तभी वे इस साम्राज्यवादी जकड़न को तोड़ सकते हैं और इस पतित विकास का खात्मा कर सकते हैं। हमारी करोड़ो आम जनता की तरह ही दूसरे अधोविकसित मुल्कों के अवाम के पास भी अपने वर्तमान भाग्य ..... अत्यधिक अभावों, बीमारियों और धीमी मौत, घिनौने पतन और अमानवीयकरण से छुटकारा पाने का इसके सिवा और कोई रास्ता नहीं है। इस संघर्ष के दौरान ना सिर्फ मुल्क की काया ही पलट हो जाएगी बल्कि खुद भी रूपांतरित हो जाऐंगे। और इस तरह युगों–युगों की गंदगी झाड़ पौंछ कर बिल्कुल साफ सुथरी कर दी जाएगी।

⌘ ⌘

सामुदायिक विकास कार्यक्रमों का नेहरू द्वारा ऑक्टोबर में उद्घाटन से पूर्व सामुदायिक विकास के सांगठनिक ढांचे को विस्तार से दर्शाने वाले एक समझौते "ऑपरैशनल अग्रीमेंट" पर 31 मई 1952 में अमेरिकी और भारत सरकारों ने दस्तख़त किए थे। और इसी तरह के एक दूसरे करार पर दोनों सरकारों ने उसी साल नोवेम्बर में फिर दस्तख़त किए थे।

फॉर्ड तथा रॉकफेलर फाउण्डेशनों ने इस कार्यक्रम का समर्थन किया। अमेरिकी अन्तरराष्ट्रीय विकास सहायता संगठन (USAID) तथा फॉर्ड फाउण्डेशन मिलजुलकर सामुदायिक विकास कार्यक्रमों पर कार्य करते थे। कार्यक्रमों में कार्य करने हेतु कार्मिकों के प्रशिक्षण के लिए भारत सरकार ने फॉर्ड फाउण्डेशन को निमन्त्रित किया। सन् 1950 के करीब, फॉर्ड फाउण्डैशन की मदद से कोई पैंतीस हज़ार ग्रामीण–कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षित किया गया। रोजेन ने लिखा, "सामुदायिक विकास और राष्ट्रीय सेवा विस्तार योजनाओं को फॉर्ड संस्थान की पूँजी सहायता इस मायने में भी महत्त्वपूर्ण थी कि इससे भारत सरकार के नये ग्रामीण संस्थानों के विकास कार्यक्रमों में तथा ग्रामीण श्रम को गाँवों में एक वस्तु निवेश की भाँति उपयोग किया जा सके। भारतीय कृषि विश्वविद्यालयों तथा कृषि शोध संस्थानों की स्थापना में सहायता देने के लिये अमेरिकी भूमि अनुदान से चलित विश्वविद्यालयों तथा रॉकफेलर फाउण्डेशन को न्यौता दिया गया। योजना आयोग के सचिव तरलोक सिंह ने फोर्ड संस्थान से प्रार्थना की, "देश भर में सैद्धान्तिक आर्थिक शोध केन्द्रों की स्थापना की जाए ताकि सरकारी नीतियों पर नजर रखी जा सके और योजना को नीति निर्माण हेतु आँकड़े और विचार उपलब्ध कराये जा सके।" द इंडियन स्टैटीस्टीकल इंस्टीट्यूट (ISI), द नेशनल कौंसल ऑफ अेप्लाईड इकानामिक रिसर्च (NCAER), द देहली स्कूल ऑफ इकानामिक रिसर्च तथा पूना में गोखले इंस्टिट्यूट जैसे संस्थान मैसाचुसेट्स इंस्टिट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी (MIT) के कंधे से कंधा भिड़ा कर काम करते थे और फॉर्ड फाउण्डेशन द्वारा फण्ड भी प्राप्त करते थे।

बकौल चेस्टर बोअल्ज़, "इस कार्यक्रम का एक फल तो बेशक यही है कि यह भारत और अमेरिका को एक साथ करीब ला रहा है। और कुछेक भारतीयों और कुछेक अमेरिकीयों को तो यह वाकई में बहुत करीब ला रहा है।"

बेशक, यह फल तो दिया ही है इस कार्यक्रम ने। मगर नेहरू की "महाक्रांति" और "शान्तिपूर्ण क्रान्ति" का क्या हुआ ? यहाँ हम गुन्नर मिर्डल की कुछ लाईनों का उद्धरण दे सकते हैं : "*स्वशासन की मशीनरी निर्माण,*

ग्रामांचल की तस्वीर बदल जाने की आशा की गई थी। .....*शांतिपूर्वक, संपत्ति के स्वरूपों में कोई भी बदलाव लाये बगैर और सारे वर्ग–संघर्षों को टालते हुए*। इसी दौर में, नेहरू ने, गाँव के निवासियों में *"लगभग पूर्ण पारिवारिक नातेदारी–समझ"* की एक शानदार खोज कर ली थी..... जागीरदारों और उनके जोतदारों के बीच, सूदखोरों और उनके शिकारों के बीच, ऊँची जातियों और सेवा करने वाली जातियों के बीच, जो कि अपने "प्रदूषणकारी प्रभाव" के कारण गाँव के बाहर निष्कासित कर दी गई हैं। विशाल किसान आबादी से जो कि सदियों से क्रूरता से लूटी और दबाई गई है, उम्मीद की गई थी कि वे पूँजी ढाँचे पर हमला न करें और इन्हें बदले नहीं बल्कि इतने उत्साही होकर श्रम–दान और धन–दान करें कि सिंचाई–कार्य, सड़कें आदि का निर्माण हो सके जो कि अधिकांशतः उन्हीं का हित साधें जो कि अधिकांश भूमि के मालिक हैं और जो भू–उपज का व्यापार करते हैं और ग्रामीण उद्योगों का भी।

नेहरू इस "शान्तिपूर्ण क्रांति" के अंकुरण के बारे में बहुत डींगें हाँकते थे। पहले सामुदायिक प्रोजिक्ट का उद्घाटन करते हए ऑक्टोबर, 1952 में उन्होंने घोषणा की– "जो काम हम आज शुरू कर रहे हैं, एक महान् सामाजिक क्रांति की शुरुआत है। उनका दावा था, *"अब हम एक महाक्रांति के लिहाज से बात कर रहे हैं, अशांति या सरफोड़ू नहीं, बल्कि एक शांतिपूर्ण क्रांति*। और हम इसी ढंग से अपने मुल्क की सूरत बदलेंगे। अपने मुल्क की बुराइयों को, अमन के साथ दूर करेंगे और एक बेहतर निजाम को तरक्की देंगे।"

नेहरू और अमेरिकी सामराजी, दोनों ने ही महसूसा था कि हिंदुस्तानी देहात के हालात वाकई गंभीर हैं। उन्हें डर था कि अगर जल्द ही कुछ किया नहीं गया तो हिन्दुस्तान भी चीन का रास्ता अख्तियार कर लेगा।

चैस्टर बोअल्ज़ पर, सामुदायिक विकास कार्यक्रमों को अमेरिकी वित्तीय एवम् तकनीकी सहायता की आपूर्ति विश्वासजनक रूप से मिलते रहने की जिम्मेदारी थी। सन् 1952 में, उन्होंने अमेरिकी भूमि नीति के अग्रतम विशेषज्ञों– वुल्फ लेजिंस्की और प्रफेसर कैनिथ पार्सन्ज़ को भारत बुलाया। कई राज्यों का गहन अध्ययन करने के बाद उन्होंने लिखा, "किसानों की दर्दनाक शिकायतों ने उन्हें उसी तरह की याद दिला दी जो कि उन्होंने 1946 में साम्यवाद पूर्व चीन में सुनी थी। उन्होंने कहा कि भारत के कई हिस्सों में तो भूमि असमानता उनके द्वारा एशिया या और कहीं देखी गयी असमानता से खराब या कहीं ज्यादा खराब है।"

साम्राज्यवादी एजन्सियाँ और भारतीय योजनाएँ : सार-संक्षेप

बहुत शुरुआत से ही, जैसा कि चैस्टर बोएल्ज़, भारत में अमेरिकी राजदूत ने, पचास और शुरुआती साठ के दशकों में लिखा था– "डगलस एनस्मिंजर की अगुआई में, फोर्ड कार्यदल भारत में योजना आयोग से गहराई से जुड़ गया था....." यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि 1949 में स्थापित हुआ फोर्ड फाउण्डेशन कैसे एक छोटे से स्थानीय संगठन से एक अंतरराष्ट्रीय संगठन में बदल गया। अब इसकी नयी जिम्मेदारी थी– कौम्युनिज़म की बढ़त को रोकने, पीछे धकेलने के साथ ही विश्वव्यापी अमेरिकी तानाशाही की स्थापना में संयुक्त राज्य के स्टेट डिपार्टमेंट की मदद करना। इसी तरह जॉर्ज रोज़ेन लिखते हैं कि फोर्ड फाउण्डेशन के लिये सुझायी गयी गतिविधियों का क्षेत्र "एक विदेशी यानि अमेरिकी सरकारी एजेन्सी के लिए बहुत संवेदनशील से महसूस किया गया.....*और इसी दृष्टिकोण से, फाउण्डेशन की गतिविधियों के लिये दक्षिण–एशिया तेजी से सामने आता गया*.....भारत और पाकिस्तान, दोनों ही.....चीन की परिधि पर थे और कौम्युनिज़म के भय से ग्रसित लगते थे। अमेरिकी नीति के मद्देनजर वे अहम लगते थे....."

भारत, फोर्ड फाउण्डेशन की गतिविधियों का एक मुख्य केन्द्र बन गया। रोजेन, मैसाचुसेट्स इंस्टिट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी (एम. आई. टी.) के अध्ययन केन्द्र के भाड़े पर एक अमेरिकी अर्थशास्त्री की हैसियत से भारत में आये थे। उन्हीं के शब्दों में 'दक्षिण एशिया में परिवर्तन के एक कारक' के रूप में..... बाद में उन्होंने भारत और नेपाल में फोर्ड फाउण्डेशन में अपनी सेवाएँ दी, वे अपने व्यक्तिगत अनुभवों से लिखते हैं– "(उनकी कार्य अवधि) 1950 से 1970 के बीच के सालों में, महत्वपूर्ण पश्चिमी अर्थशास्त्रियों और योजनाकार समूहों तथा भारत–पाक में हाल ही में बने इसी प्रकार के समूहों के मध्य बड़े करीबी रिश्ते थे.....फोर्ड फाउण्डेशन के कार्यक्रमों का लक्ष्य था– नीति को प्रभावित करना या फिर नयी संस्थाओं का निर्माण या फिर पहले से ही मौजूद संस्थाओं को मजबूत करना और इस ढंग से स्थानीय अर्थशास्त्रियों और अधिकारियों द्वारा उपयोग में ली जा रही समझ को प्रभावित करना।"

रोजेन ने आगे लिखा : "फाउण्डेशन के अध्यक्ष पॉल हॉफमेन और उनके समूह की 1951 में भारत यात्रा के समय, प्रधानमंत्री से लेकर योजना आयोग तक, हर एक स्तर ने बड़ी गर्मजोशी से स्वागत किया था.....*फोर्ड फाउण्डेशन के साथ ठोस मुद्दों पर वार्ता के लिए नेहरू ने योजना आयोग को नियुक्त किया, सरकार की ओर से* सर. वी. टी. कृष्णामाचारी; जो 1953 में योजना आयोग के उपाध्यक्ष बने एवं इसके सचिव एवम् इसी अवधि में योजना आयोग के मुख्य कर्त्ता–धर्त्ता रहे तरलोक सिंह से; जिनसे उनकी (हॉफमेन की) मैत्री भी थी, एनस्मिंजर लगातार संबंध बनाए रखते थे..... *दिल्ली के फॉर्ड कार्यालय से प्रवाहित होने वाले विचारों में नेहरू की रुचि होने के कारण ही एनस्मिंजर को महत्वपूर्ण मामलों में प्रधानमंत्री के पास पहुँच हासिल थी। दिल्ली में, फाउण्डेशन कार्यालय को वैचारिक व्युत्पत्ति और नये कार्यक्रमों के विकास में सहभागी माना जाता था और खुद के प्रोजेक्ट्स की प्रगति और उनके मूल्यांकन के काम से कहीं ज्यादा बढ़कर काम करना था योजना आयोग के साथ मिलकर संयुक्त रूप से वैचारिक विकास के लिए.....एनस्मिंजर को.....हॉफमेन, बोअल्ज और मिलिकन की भांति ही.....तीसरी दुनिया के एक आदर्श प्रतिरूप तथा अमेरिकी सुरक्षा के लिहाज से भी, भारतीय विकास कार्यक्रम के जनतांत्रिक प्रयोग की सफलता पर गहरा और व्यक्तिगत विश्वास था।"*

समूचे पूरब के महत्वपूर्ण बिंदु भारत को, चीन को निगल चुके दुर्भाग्य से बचाने के लिए, फोर्ड फाउण्डेशन ने अमेरिकी व्यापार, प्रशासन और शिक्षा प्रतिष्ठानों के मंजे–घुटे लोगों को भर्ती कर भारत भेजा, जैसे डगलस एनस्मिंजर, जो कि अमेरिकी कृषि विभाग में एक उच्चाधिकारी थे, उनमें से ही एक थे। वे फोर्ड कार्यदल मुखिया के रूप में भारत आये। भारत सरकार के एक वरिष्ठ अधिकारी को यह देखकर अचरज हुआ था कि एनस्मिंजर को, नेहरू से सदाबहार मुलाकातों का अवसर, अमेरिकियों समेत और किसी भी राजदूत से कहीं ज्यादा हासिल था !"

एनस्मिंजर ने 1982 में रोज़ेन से कहा था– "मैंने कार्यक्रमों के विचार उन्हीं के चैनलों (भारतीय अधिकारियों) के मार्फत खपाये हैं। योजना आयोग, मुझे सूचित किए रखने के लिए ..... अपने प्रक्रियागत दस्तावेज .....मुझे भेजा करता था। इस समझ के साथ कि मेरे विचारों और मेरे सुझावों का हमेशा स्वागत है। योजना के इलाकाई दौरे के बाद योजना आयोग हमेशा यह आशा रखता था कि मैं अपने समीक्षात्मक पठनों को उन्हें उपलब्ध कराऊँ..... जो कि मैंने हमेशा किया।"

रोजेन फर्माते हैं : *"सन् 1950 से 1960 के शुरुआती दौर के बीच,* आमतौर पर विदेशी विशेषज्ञों को भारतीयों से कहीं 'ज्यादा अधिकार' हासिल थे, चाहे भारतीय अधिकारी उनसे कहीं अधिक योग्य हों, तो भी। और भारतीय अधिकारी भी आमतौर पर, विदेशियों से प्रार्थना करते थे कि वे उनके किसी खास विचार का समर्थन कर दें ताकि उस पर भी मंजूरी की मुहर लग सके। *इन विदेशी विशेषज्ञों को अत्यधिक गुप्त दस्तावेजों तक भी बहुत आसान पहुँच हासिल थी.....एक ऐसा विशेषाधिकार, जिससे समान पद पर आसीन भारतीय अधिकारी भी वंचित थे !"*

सामुदायिक विकास कार्यक्रम, जो शुरुआती भारतीय योजनाओं के अभिन्न अंग थे और जिसमें प्रमुख जोर था भारतीय गांवों और ग्राम्य जीवन का पुनर्निर्माण अमेरिकी प्रेरणा और उसके ही सहयोग से बनाए गए थे। अमेरिकी वास्तुविद् एवम् शहरी योजनाकार अल्बर्ट मेइर, जिन्हें नेहरू का भरोसा और दोस्ताना हासिल था ने अधिकारियों के सहयोग से, 1948 को इटावा, उत्तरप्रदेश में, 64 गाँवों को लेते हुए एक पाइलट प्रोजिक्ट विकसित किया। नेहरू ने इसे "वामपंथी एवम् साम्यवादी किसान आंदोलनकारियों द्वारा मूलभूत भूमि–सुधार की मांग की क्रांतिकारी धमकियों का मुकाबला करने के लिए एक आदर्श हथियार" कहते हुए तारीफ की। अमेरिकी आर्थिक एवं तकनीकी सहायता के चलते यह शीघ्र ही अखिल भारतीय कार्यक्रम का मॉडल बन गया। यह दावा किया गया था कि सामुदायिक विकास कार्यक्रम, आपसी सहयोग एवम् ग्रामीणों द्वारा स्वयं सहायता के जरिए, भारतीय ग्रामों का चहुँमुखी विकास करेंगे। कार्यक्रम के लक्ष्य वाकई सब्ज बाग दिखाते थे : सघन कृषि विकास ही नहीं बल्कि.....भू–उर्वरता सुधार (Land reclamation).. .सिंचाई, फार्म मैनिजमंट, फसल सुरक्षा, कृषि के वैज्ञानिक तरीके जैसे उन्नत बीज, खाद, पेस्टीसाईड्ज एवं बेहतर औजार.....इसके अलावा स्वास्थ्य और शिक्षा की बेहतरी, सामाजिक कल्याण, सड़क निर्माण, को–ऑपरेटिव संघों का गठन आदि और भी कई बातें। आशा की गई थी कि विभिन्न चरणों में इस कार्यक्रम का विस्तार सम्पूर्ण भारत में हो जाएगा। सामुदायिक विकास कार्यक्रम द्वारा भू–उपजता वृद्धि, मल–जल निकासी, सिंचाई एवम् सड़क निर्माण योजना का सिर्फ एक तिहाई खर्च ही वहन किया जाना था जबकि शेष खर्च के लिए वे "श्रम एवम् धन द्वारा ग्रामीणों के सहयोग" पर निर्भर रहते थे। कार्यक्रम ने सहकारी संघों के गठन का प्रस्ताव रखा.....शुरू में ऋण सहकारी संघ और बाद में सहकारी खेती.....और पंचायतों के गठन का प्रस्ताव, जिन्हें गाँव के चहुमुखी विकास की योजनायें बनाने और उन्हें लागू करने की महती जिम्मेदारी सौंपी जानी थी और इस तरह से संपूर्ण भारतीय

How to pay and subscribed for

ASPECTS OF INDIA'S ECONOMY

Aspects is not published as a periodical, but as a numbered series of separate books. The price per issue is Rs. 12. The contribution for four numbers has been raised to Rs. 45 (including postage). You may pay for upto 12 numbers at a time (i.e. Rs. 135)

We prefer that you send a Demand Draft/Money Order in the name of :

R.U.P.E.,
Ground floor, Sidhwa House,
N.A. Sawant Marg, MUMBAI 400005

Please remember to write your name, address and message in the space at the bottom of the money order form. Local (Mumbai) cheques are also accepted at their value; but if you send an outstation cheque, we will substract Rs. 20 for bank charges.

---

* You may also contact to :
FRIENDS OF ASPECTS, RAJASTHAN
P.O. Box No. 160, UDAIPUR (Raj.)
Pin - 313 001

21. "The Economy and Political Stability," *EPW,* Special Number, Aug. 1997, p. 1220.
22. Quoted in *ibid.*
23. *Ibid.*
24. *Ibid.*
25. See Frankel, *op cit,* pp. 269-87; George Rosen, *Western Economists and Eastern Societies : Agents of Change in South Asia 1950-1970,* Delhi, 1985, pp. 74-7, 80-1.
26. PHDCCI, "Agricultural Price Policy in Indian" (Mimeo) Dec. 1988, p. 11-emphasis in the original.
27. *ET.* 31 Mar. 1995.
28. PHDCCI, *op cit.* p. 15 - emphasis in the original.
29. *Ibid,* p. 26 - emphasis in original.
30. *Ibid,* pp. 24-5.
31. Dantwala, "Prices and Cropping Pattern," *EPW,* 19 Apr. 1986, p. 695.
32. PHDCCI, *op cit,* p. 20.
33. Myrdal, *The Challenge of World Poverty,* London, 1970, p. 125-emphasis in the original.
34. Tanzer, *The Political Economy of International Oil and the Underdeveloped Countries,* London, 1969, p. 347.
35. Cleaver, Jr. "The Contradictions of the Green Revolution," *Monthly Review,* Jun. 1972, p. 81.
36. Mooney, *Seeds of the Earth : A Private or Public Resource?* San Francisco, 1980 reprint, p. 44.
37. *SWN,* Vol. XIV, p. 36; also p. 477; Vol. XV, p. 570, *passim.*
38. GOI, *The Gazetteer of India,* Vol. III, New Delhi, 1975, pp. 676-7-emphasis added.
39. GOI, Planning Commission, *The First Five Year Plan,* New Delhi, 1952, pp. 437-8 - emphasis added.
40. Quoted in Hanson, *op cit.* p. 178.
41. Millikan and Rostow, *A Proposal : Key to an Effective Foreign Policy,* New York, 1957, p. 53.
42. *Ibid,* p. 104.

42a. *Ibid,* 71, 78-83.

43. Hanson, *op cit,* p. 179.

44. *Ibid,* pp. 189-90.
45. R.K. Hazari and S.D. Mehta, *Public International Development Financing in India,* Bombay, 1968. pp. 52, 56. This study by Hazari and Mehta was undertaken as a research project of the Columbia University School of Law. George Kalmanoff. associate director of the project, was responsible for the final editing of the study and the drafting of the concluding chapter. In the Preface to the book, W.G. Friedmann, director of the project. wrote: "The responsibility for the presentation of facts, as well as for the opinions formulated in this study, is entirely that of the Director."
46. Harrison, *op cit,* p. 335.
47. GOI, Planning Commission, *Sixth Five Year Plan 1980-85,* New Delhi, 1981, p. 14.
48. Quoted in "The World Bank on India's Foreign Debt," *AIE,* No. 9, Jul.-Sep.-1992, p. 56 - emphasis added.
49. *The Statesman,* 16 Dec., 1993.
50. *BS,* 27 Aug, 1992.
51. *BS and Statesman,* 15 Mar. 1995.
52. Eldridge, *The Politics of Foreign Aid in India,* Delhi, 1969, Note 6, p. 266; also p. 180. See also Hazari and Mehta, *op cit,* pp 70, 97; and Reserve Bank of India, *Survey of Financial and Technical Collaboration in Indian Industry - 1945-70 - Main Report,* Bombay, 1974, p. 1063.
53. *ET,* (New Delhi), 1 Mar., 1977.
54. Chaudhuri, "Financing of Growth of Transnational Corporations In India. 1956-75, "*EPW,* 18 Aug 1979, p. 1431; also N.K. Chandra, "Role of Foreign Capital in India," *Social Scientist,* Apr. 1977, pp. 17-8.
55. Chaudhuri, *op cit,* pp. 1431-4.
56. See Ingersoll Rand (India)'s Prospectus issued in August 1977.
57. "Foreign Companies : Easy Pickings," *EPW,* Sep. 1977, p. 1624.
58. Kidron, *op cit,* p. 228.
59. *AIE* No. 6, Oct-Dec. 1991, p. 26.
60. *BS,* 22 Jul. 1995.
61. Kidron, *op cit,* p. 257.
62. *Ibid,* pp. 261-2- emphasis added except where otherwise mentioned.
63. GOI, *Report of the Industrial Licensing Policy Inquiry Committee (Main Report),* New Delhi, 1969, pp. 137-8; also p. 131.

12. Gadgil, "Planning without a Policy Frame", *EPW,* Annual Number, Feb. 1967.
13. Bettelheim, *op cit,* pp . 146, 147.
14. *Ibid,* pp. 362-3.

14a. See Rosen, *op cit,* pp. 75-81; Frankel, *op cit,* pp. 286-7.

15. *Ibid,* p. 297.
16. *Ibid,* p. 286.
17. Rosen, *op cit.* p. 81.
18. See the *IMF Loan : Facts and Issues,* Government of West Bengal, Calcutta, 1981.
19. Chandra Shekhar, "Statement on Economic Policies:, Press release dated New Delhi, 1 Jul. 1990.
20. See BM, "Liberalisation Lobby's Attemped Coup", *EPW,* 9 June 1990, pp. 1237-8.
21. See *AIE,* No. 3, Jan-Mar. 1991, pp. 2-3.
22. See *Hindustan Times* (New Delhi), 25 Jul. 1991.
23. See the finance minister's letter, dated 27 August 1991, to the managing director, IMF, and the attached "Memorandum on Economic Policies for 1991/92-1992/93".
24. *The Statesman,* 12 Feb. 1995.
25. *BS,* 24 Oct. 1994 - emphasis added.
26. *Eighth Five Year Plan 1992-97,* Vol. I, p. 19.
27. *Ibid,* Vol. I. p.ii emphasis added.
28. *Ibid,* Vol. II. p.ii 108.
29. Frank *Lumpenbourgeoisie : Lumpendevelopment,* New York and London, 1974 edn; p. 130 - emphasis added.

⌘ ⌘

9. *BS* and *ET,* 7 Sept. 1992; the source cited is Surath Devala (ed.), *Employment and Unionisation in Indian Industry* with introduction and conclusion by E.A. Ramaswamy of the Institute of Social Studies, the Hague.
10. *The Statesman,* 4 Apr. 1994.
11. *New Age,* 25 Jul. 1993.
12. *Et.* 24 Sep. 1993; see also *Statesman,* 5 May 1995.
13. *BS,* 5 Oct, 1994.
14. *The Statesman,* 17 Apr. 1994.
15. *The Telegraph,* 25 Aug. 1986.
16. *ET,* 28 Dec. 1982.
17. *ET,* 22 Apr. 1994.
18. Balogh, *The Economics of Poverty,* 2nd edn; London 1974, p.31.
19. Baran, "On the Political Economy of Backwardness", in A.N. Agarwala and S.P. singh (eds.), *The Economics of Underdevelopment,* New York, 1963, p.89.
20. *ET* and *Statesman,* 2 and 3 Aug. 1995.

VI The Plans : Are They Worth the Name ?
(योजनाएँ : क्या ये इस नाम के भी लायक हैं?)

1. See Franke, *op cit,* p. 85.
2. R.N. Jaju, *(II) G.P. Birla : A Biography,* New Delhi, 1985, p. 144.
3. GOI, Planning Commission, *Sixthy Five Year Plan 1980-85,* pp. iii-iv - emphasis added.
4. *Ibid,* p. xiv.3
5. Baran, *The Politial Economy of Growth,* 1962 edn; Preface, p. xxix - emphasis in the original.
6. Marx and Engels, "Manifesto of the Communist Party", *Selected Works* Vol.I, Moscow, 1973, pp. 110-1.
7. Harry Braverman, *op cit,* p. 284.
8. Hazari, *Industrial Planning and Licensing Policy,* Vol.I:Text, GOI, Planning Commission, New Delhi, pp. 8, 9, 18.
9. Hazari, *The Structure of the Corporate Private Sector,* Bombay, 1966. p. 371.
10. Hanson, *op cit,* 207; also Frankel, *op cit,* p. 123.
11. Myrdal, *op cit,* Vol II pp. 732-3.

64. H. Venkatasubbiah, *Enterprise and Economic Change : 50 Years of FICCI,* New Delhi, 1977, p. 93.
65. Kidron, *op cit.* pp. 263-9.
66. Martinussen, *Transnational Corporations in a Developing Country : The Indian Experience,* New Delhi, 1988, pp. 19,20.
67. Vaitsos, "The Process of Commercialisation of Technology in the Andean Pact,: In Hugh Radice (ed.), *International Firms and Moderm Imperialism,* Harmondworth, Middlesex, 1973, p. 319.
68. Vaitsos, "Bargaining and the Distribution of Returns in the Purchase of Technology by Developing Countries," in H. Bernstein (ed.), *Underdevelopment and Development,* Harmondsworth, Middle Sex 1973, p. 319.
69. *Ibid,* p. 320.
70. GOI, Planning Commission, *The Second Five Year Plan,* New Delhi, 1956, p. 6.
71. News item dated New Delhi. 29 Aug. 1990 in *Financial Express;* facsimile reproduction of it in AIE, Jul- Sep. 1990, p. 46 - emphasis added.
72. Kidron, *op cit,* H - 312 - 3; also pp. 288-9, 292.
73. *BS,* 15 July 1995.
74. GOI, *Report of the CSIR Review Committee : Towards a New Perspective,* New Delhi, 1989, pp. 2, 4, 66, 70 - emphasis added.
75. "Role of Public Funded R & D in the New Economic Environment," *Statesman,* 27 May 1993 - emphasis added.
76. *Reserve Bank of India Bulletin,* Feb, 1992; cited in *AIE,* No. 10, Oct-Dec. 1992, pp. 18, 24-5.
77. See N.K. Chandra, "Planning and Foreign Investment in Indian Manufacturing," in T.J. Byres (ed.), *op cit.* p. 511.
78. *BS,* 1 Apr, 1994.
79. *ET,* 26 Dec, 1992.
80. Myrdal, *The Challenge of World Poverty,* p. 40.
81. Panikkar, *Afro-Asian States and Their Problems,* London, 1959, p.80; cited in Myrdal, *Asian Drama,* Vol. I, p. 698, fn.1.
82. Landes, *op cit,* p. 66.
83. Johnson, *Technology and Economic Interdendence,* Macmillan, 1975; cited in Vinod Vyasulu, "Technology and Change in Underdeveloped Societies," *EPW,* 23 Aug. 1976, p. 73.

84. Braverman, *Labour and Monopoly Capital,* New York and London, 1974, pp. 166.

85. World Bank, *China : Socialist Economic Development,* Vol.I, pp. 111, 117-8, 127; Vol.II, pp. 121, 123, 420 - emphasis added.

86. K.R. Bhattacharya, "Wages of Foreign Collaboration," *EPW, 29 Jun, 1974,p. 1022.*

87. Tanzer, *op cit.* p. 271, 273.

IV. 'Development' Planning - At Whose Expense ?
(विकास योजनाएँ: पर किसकी कीमत पर)

1. Kalecki, "Theories of Growth in Different Social Systems," *Monthly Review,* Oct, 1971, p. 77.

2. GOI, Planning Commission, *Seventh Five Year Plan, 1985-90,* New Delhi, 1985, Vol. I, 57-58 (Table 4.15)

3. *ET,* 10 Feb. 1987.

4. See *AIE,* No. 12, Jan.-Mar. 1994, Table 4, p. 15. The source in *Statistical Outline of India,* Tata Services.

5. GOI, Planning Commission, *Eighth Five Year Plan, 1992-97,* Vol. I, p. 95.

6. *Ibid* - emphasis added.

7. Harrison (ed.), *India and the United States,* p. 151, also p. 152; see also Mathew J. Kust, *Foreign Enterprise in India : Laws and Policies,* Bombay, 1965, pp. 386 ff.

8. *ET,* 18 Feb. 1997.

9. Neeraj Kaushal, "Corporate Lies and Statistics", *ET,* 30 Mar. 1995.

10. *The Statesman,* 17 May 1995.

11. *Ibid* - 7 dec. 1995.

12. *ET 300 : India's Corporate Giants* (an *Economic Times* publication giving the rank and financial performance of each of the top 300 companies for the financial years 1991-92 and 1992-93), Bombay, n.d., p. 16.

13. *ET* 12 Oct. 1995.

14. "Money Manager " supplement, *BS,* 28 Dec. 1995.

15. Kidron, *op cit,* pp. 225-6.

16. Amaresh Bagchi, "Export Incentives in India : A Review", in Amiya Kumar Bagchi and Nirmala Banerjee (eds.), *Change and Choice in Indian Industry,* Calcutta, 1981, pp. 315-6.

17. *Ibid,* p. 315.

18. *Ibid,* p. 383.

19. *BS,* 20 Nov. 1995.

20. See *BS,* 1 Jun. and 5 Jul. 1994; *The Statesman,* 21 Dec. 1994; *ET,* 27 Feb, 1995.

21. *BS,* 7 Jun, 1985.

21a. *The Telegraph,* 23 Jun, 1983.

22. S.K. Goyal, *op cit,* p. 110.

23. *ET,* 11 Mar. 1991; see also V.M. Dandekar, "Budget 1994- 95: Fiscal Aspects and the Real Economy", *EPW,* 16-23 Apr. 1994, p. 989.

24. *ET,* 7 Jul. 1995.

25. See *AIE,* No.9, Jul-Sep. 1992, p.62.

26. *Eighth Five Year Plan 1992-97,* Vol, I p. 95.

27. *Eighth Five Year Plan 1992-97,* Vol. II, pp. 67-8.

28. S.S. Acharya, "Getting the Subsidies Right", *ET,* 27 Mar 1995.

29. Extracts from Reserve Bank of India's report on *Currency and Finance, 1993-94,* reproduced in *ET,* 16 Mar. 1995.

30. *ET,* 16 Mar. 1995.

31. *The Statesman,* 29 Apr, 1995.

32. Jaya Mehta, "Prices and Distribution", in Public Interest Research Group, *Alternative Economic Survey 1993-94,* Delhi, 1994, p. 77.

33. Minhas, "Planning process and Budgets" (Excerpts), ET, 10 Jul. 1987.

V. 'Development Planning - For Whose Development ?
(विकास योजनाएँ: किसके विकास के लिये)

1. A.I. Levkovsky, *Capitalism in India : Basic Trends in its Development,* Delhi, 1966-p. 4467.

2. Goyal, *op cit,* p.46, Table V.2.

3. *BS, 13* Apr. 1995.

4. *ET,* 18 May 1983.

5. *ET,* 21 Dec. 1993.

6. *BS,* 8 Oct. 1990.

7. *BS* and *ET,* 8 Apr. 1994.

8. *BS,* 29 Oct. 1993.